"गांधी-युग का अन्त"

(बीस वर्ष का राजनीतिक सिंहावलोकन)

लेखक

देवीदयाल दुबे

एक रुपया

प्रकाशक :—
अग्रगामी साहित्य-मंडल,
इटावा।

प्रथम संस्करण, ११००
१९४० ई०

मुद्रक :—
पं० वेदनिधि मिश्र,
बी. एन. प्रेस इटावा।

भारतीय युवकों को-

जो

नवयुग की प्रतिष्ठा में

अपने रक्तकी श्रद्धाञ्जलि चढ़ायेंगे।
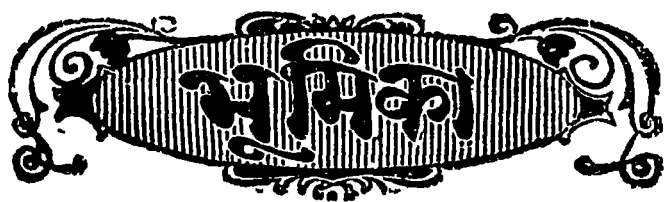
भारतवर्ष के सामने जहां अनेक समस्याएं हैं, वहाँ सब से अधिक और आवश्यक समस्या उसकी परतन्त्रता है। पराधीन देश में, स्वतन्त्रता के प्रश्न को प्रधानता देना अनिवार्य भी है। पराधीनता की शृङ्खलाओं में जकड़े हुये के लिये अन्य सभी प्रश्न गौण रहते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भी मूल रूप में होता परतन्त्रता से ही है। परन्तु समस्या का यही एक पहलू नहीं है; असल बात तो यह है कि यह परतन्त्रता दूर कैसे होगी?

संयोग से हमारे देश में गत २० वर्षों से महात्मा गांधी के नेतृत्त्व में एक आन्दोलन हो रहा है। इस आन्दोलन को स्वतन्त्रता के प्रश्न से सम्बन्धित समझा जाता है, और जहाँ तक प्रस्तावों तथा प्रचार का सम्बन्ध है-वह है भी। स्वतन्त्र होने की भावना बनाने में, इस नेतृत्त्व ने देश का बड़ा भारी उपकार किया है, और वह इसके लिये गांधीजी का ऋणी भी रहेगा। इतना ही नहीं, प्रत्येक क्षेत्र में, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी ने पुराने और आधुनिक दृष्टिकोण का जो सामञ्जस्य उपस्थित किया है, वह भारतवर्ष की दशा को देखते हुये काफी दूर तक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। सामा-

भारतवर्ष के सामने जहां अनेक समस्याएं हैं, वहाँ सब से अधिक और आवश्यक समस्या उसकी परतन्त्रता है। पराधीन देश में, स्वतन्त्रता के प्रश्न को प्रधानता देना अनिवार्य भी है। पराधीनता की शृङ्खलाओं में जकड़े हुये के लिये अन्य सभी प्रश्न गौण रहते है, क्योंकि उनका सम्बन्ध भी मूल रूप में होता परतन्त्रता से ही है। परन्तु समस्या का यही एक पहलू नहीं है: असल बात तो यह है कि यह परतन्त्रता दूर कैसे होगी ?

संयोग से हमारे देश में गत २० वर्षों से महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक आन्दोलन हो रहा है। इस आन्दोलन को स्वतन्त्रता के प्रश्न से सम्बन्धित समझा जाता है, और जहाँ तक प्रस्तावों तथा प्रचार का सम्बन्ध है—वह है भी। स्वतन्त्र होने की भावना बनाने में, इस नेतृत्व ने देश को बड़ा भारी उपकार किया है, और वह इसके लिये गांधीजी का ऋणी भी रहेगा। इतना ही नहीं, प्रत्येक क्षेत्र में, विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी ने पुराने और आधुनिक दृष्टिकोण का जो सामञ्जस्य उपस्थित किया है. वह भारतवर्ष की दशा को देखते हुये काफी दूर तक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। सामा-

जिक क्षेत्रमें भी गांधीजी ने अपना विशेष स्थान रक्खा, और सुधारवादी दृष्टिकोण से जो कुछ बन सका किया है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण संसारके अन्य देश गांधीजी का परिचय भारत के महान नेता के रूप में पाते हैं। यह कठोर सत्य है भी, क्योंकि यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि भारतवर्ष की भावनाओं पर अपना नियन्त्रण, अपने अद्भुत तरीके से रखने में जितने गांधीजी सफल हुये हैं उतना अन्य कोई नेता इन २० वर्षों में नहीं हुआ है।

तो फिर, यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा मानते हुये भी लेखक ने गांधी-युग के अन्त की कल्पना क्यों कर की? क्या उसके ऊपर प्रकट किये हुये विचारों में और इसमें विरोधाभास नहीं है?

इस प्रश्न का उत्तर बडी नम्रता पूर्वक यह है, कि लेखक की दृष्टि में गांधीजी अन्य क्षेत्रों में भले ही सफल हुये हों, परन्तु राजनीतिक दृष्टिसे वे पूर्णतया असफल सिद्ध हुये हैं। असफल ही नहीं, राजनीति में उनका नेतृत्व किन्हीं-किन्हीं मानियों में प्रतिगामी रहा है, और उसकी जो निकम्मी प्रतिक्रिया देश पर होना स्वाभाविक थी, वह भी पर्याप्त मात्रा में हुई है।

यद्यपि गांधीजी ने अपने ध्येय को कभी वर्गों के रूप में नहीं बांटा है, उनकी राजनीति भी उनके धर्मका एक अंग रही

है,—परन्तु व्यवहार-क्षेत्रमें ऐसा मानने पर भी राजनीति को पृथक् स्थान मिल जाता है। उन्होंने अपने इस राजनीतिक अंग को जिन आदर्शों की भित्त पर खड़ा किया है, वे स्वत ऊंचे और माननीय होते हुये भी, इस क्षेत्र में अत्यन्त अनुपयोगी रहे हैं। अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि उनका प्रयोग ही ऐसे गलत तरीके से किया गया है जिसमें न तो अभी तक सफलता मिली है, और न भविष्य में ही मिल सकती है। गांधीजी ने प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा के दर्शन किये हैं, परन्तु लेखक की दृष्टि से उनकी वह अहिंसा अत्यन्त अधूरी है, और उसे अहिंसा का ऐसा असंस्कृत रूप कहना चाहिये जो प्राण से रहित होकर मानव-समाज के लिये कल्याणकर नहीं हो सकती। गांधीजी अपनी विचित्र अहिंसा को देश पर लादना चाहते हैं, और वे इसके लिये यहां तक प्रयत्नशील रहे और हैं कि उन्होंने देश को अहिंसा की प्रयोगशाला कर दिया। उनका सत्याग्रह आन्दोलन भी उनकी अहिंसा का प्रतीक है। सत्याग्रह के रूपमें ही जब-तब उन्हें अपनी अहिंसा की सफलता दीखती है। सत्याग्रह का प्रयोग हृदय-परिवर्त्तन और आत्म-शुद्धि के लिये होता है। जहां तक आत्म-शुद्धि का सम्बन्ध है, प्रत्येक को इस बातका अधिकार है कि यदि उसकी आत्म-शुद्धि से समाज का अहित न होता हो तो वह खुदकुशी करके भी आत्म-शुद्धि का प्रयोग कर सकता है। परन्तु एक अहिंसावादी के लिये यह

कैसे सम्भव होसकता है कि वह अहिंसाका दूसरे पर प्रयोग करे ? हिंसा या अहिंसा दूसरों पर प्रयोग किये जाने के लिये नहीं है मनुष्य स्वयंही अपनी हिंसा या अहिंसा किया करता है।

एक पौराणिक उदाहरण देकर इसे यों कहा जा सकता है कि कंस ने साधुओं को दुःख देकर स्वयं हिंसा की, और उसे उस हिंसा का ही परिणाम भगवान् कृष्ण के द्वारा मृत्यु दण्ड के रूप में मिला। कंस की मृत्यु से भगवान् कृष्ण हिंसक नहीं हुये, बल्कि वह मृत्यु तो कंस की हिंसा का निश्चित परिणाम थी। अपनी हिंसा-अहिंसा से मिला हुआ परिणाम अपना ही उत्पन्न किया हुआ होता है। दूसरा अपना धर्म पालन के हेतु अनासक्त-भाव से कारण मात्र बन सकता है। भौतिक-व्यापार में न हिंसा है न अहिंसा, वह दूसरे को दुःख देने में भी नहीं है, वास्तविक-अहिंसा या हिंसा तो उस भावना में है जिससे प्रेरित होकर कर्म किया जाता है। लेकिन गांधीजी ने अपने विचित्र अहिंसा धर्म का प्रयोग इस देश के ऊपर इस भांति किया कि वास्तव में वह हिंसा से मिलती-जुलती चीज बन गई है। अपनी अहिंसा का दूसरों पर प्रयोग करना निश्चय ही हिंसा है, क्योंकि अहिंसा पूर्णरूप से आत्म-धर्म है। व्यक्ति को अहिंसा-धर्म पालने के लिये अपने तक ही सीमित रहना चाहिये।

यह अहिंसा का शुद्ध रूप है। और ऐसी स्थिति विरले ही पाते हैं। शेष संसार तो भौतिक बातों तक ही सीमित

रहता है, और जीवन के द्वन्दों में पड़ कर वह इतना भावना प्रधान बन जाता है कि कोई भी उसका जब जहां चाहे प्रयोग कर सकता है। परन्तु किसी भी महापुरुष की यह नीति, कि वह जगत को प्रयोग-शाला बनाए, कदापि सराहनीय नहीं कही जा सकती। इससे संसार का हित नहीं होता। उसे ऐसे प्रयोग ग्राह्य भी नहीं होते, और वह समय आने पर अपने को इन प्रयोगों से अलग भी कर लेता है—जब कि संसार-चक्र उसके गालों पर थपेड़ लगाता है।

अहिंसा–हिंसा के ख्याल को छोड़ कर–पुस्तक इसकी विवेचना के लिये लिखी भी नहीं गई है—यदि मोटी दृष्टि से विचार करें, तो कहीं भी नहीं लगता है कि गांधीजी अपनी इस नीति के द्वारा हिन्दुस्तान को ध्येय तक पहुंचा सकते हैं। यह हो सकता है, कि वे अपने पीछे एक गांधी-ग्रन्थ छोड़ जांय, परन्तु स्वतन्त्रता की समस्या हल करने में देश को उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

इसी ख्याल से देश की २० वर्ष की राजनीतिक हल-चलों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। कहीं भी प्रयत्न भर पक्षपात होने की सम्भावना नहीं रक्खी है, और फिर भी अनजान में ऐसी त्रुटि हो गई हो तो लेखक उसका संशोधन करने के लिये सदैव उद्यत है।

पुस्तक एक साथ बैठ कर नहीं लिखी जा सकी। क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र में समय की न्यूनता थी, और जब

समय मिल सका, पुस्तक को आगे से लिखना प्रारम्भ कर दिया। इसी हेतु पुस्तक का विधिवत् विषय-विभाजन न हो सका। शीघ्रता भी थी कि जैसे हो रामगढ़-कांग्रेस-अधिवेशन तक पुस्तक प्रकाशित हो जाय। इसलिये मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियां भी वहुतेरी रह गई हैं।

पुस्तक को लिखने में, गांधी-साहित्य का लेखक आभार स्वीकार करता है। 'यंग इण्डिया' और 'हरिजन-सेवक' की फायलों से वहुत सहायता ली है। स्थान-स्थान पर गांधीजी के वक्तव्यों और लेखों का संग्रह इसीका परिणाम है। इसके सिवाय, इस स्वानुभव ने भी लिखने में बहुत मदद दी है, जो कि कार्य करते-करते स्वत उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार जैसे-तैसे करके यह पुस्तक तैयार हुई है। जो विचार वर्षों से निज की सम्पत्ति थे, उनका समाजीकरण होने से चित्त को प्रसन्नता हो रही है। यदि देश-वासियों ने पुस्तक में वर्णित विचारों को समझा, और नवयुग के आवाहन में अपना प्रयत्न, भारतमाता की सेवा में अर्पण किया, तो लेखक अपने को कृतकृत्य समझेगा।

इटावा,
१ ली मार्च, १९४० ई०

विनीत —
देवीदयाल दुबे

'गां
धी
यु
'गां धी यु ग का अ न्त'
का
अ
न्त'

युग-निर्माता

हात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी के रूप में आज-कल एक दुबला-पतला खादी-वेष्टित शरीर हमारे देश के लिये समस्या बनकर उपस्थित है कोई भी क्यों न हो, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक विषयों पर विचार करते समय 'गान्धी' को नहीं भूल सकता। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के बल पर सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। एक वाक्य में कहा जा सकता है, कि गान्धीजी भारतवर्ष के ऐसे केन्द्र-बिन्दु हैं, जहां पर उनके सहयोगी तथा विरोधी दोनों की विचार रेखाएं मिलती हैं। यह नहीं हो सकता कि भारतीय समस्याओं पर विचार करते समय गान्धी जी की ओर से चश्मपोशी की जा सके। इस समय देश में जितनी भी सार्वजनिक हलचलें चल रही हैं, वे या तो उनकी हैं या उनके विचारों के अनुरूप उनके प्रिय शिष्यों की, अथवा उनसे मतभेद रखने वाले विचारों के महानुभावों की। सारांश यह है कि. हम या आप कोई भी क्यों न हों, गान्धी

जी को भूलने में समर्थ नही हैं। यदि कोई स्वतन्त्र विवेक पर आश्रित हो कर अपने को केवल अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रखना चाहे तो भी गान्धी जी किसी न किसी रूप में उसके सामने आ ही जायेंगे, ठीक उसी तरह जैसे बनवासी भी बृटिश साम्राज्य के प्रभाव से अपने को अछूता नहीं रख सकता। और नही तो, प्रकृति-माता की सम्पत्ति बीहड़, उसके सामने रक्षित जंगल बनाकर पेश किया जायगा तथा उसे टैक्स की चिन्ता खाती ही रहेगी।

आज यदि कोई दूर देश का वासी आये तथा उसके राजनैतिक तत्त्व और बुद्धि को भावमयी कविता की बाढ़ दबाये हुये हो तो वह भारतवर्ष का अध्ययन अपने सामने केवल गांधी जी को रखकर कर सकता है। भावुक भक्तों की विशाल सेना से घिरे हुये गान्धीजी, उसे लगेगा कि वह महान् भारतवर्ष की प्रतिमूर्ति के समक्ष खड़ा है। कहीं भावुकता थोड़ी ज़ोर और मार जाय तो उसे अनुभव होने लगेगा कि उसकी आध्यात्मिक पिपासा उनके दर्शन मात्र से तृप्त हो रही है। हम भी जाकर उसके सामने कहने लगेंगे कि "गान्धी पर हमें गर्व है, क्योंकि वे निरन्तर हमारे सम्पर्क में हैं। वे हमारी प्रत्येक समस्या को हल करना चाहते हैं। वे हमारे देव दूत हैं; क्योंकि हमारा विश्वास है, कि मुक्ति का सन्देश उन्हीं के पास है।" और इस प्रकार जब वह अपने वतन को वापिस लौटेगा तो भारत के स्थान पर उसके मस्तिष्क में केवल

'गान्धी'का ही चित्र रहेगा। यह असम्भव कल्पना नहीं है। पूछिये किसी श्वेत परिधान पहिने हुये कॉंग्रेसके नेतासे, वह भी कहेगा कि हम गान्धी वादी हैं। कांग्रेसी होना तो तर्क के पश्चात् स्वीकार करेगा, सो भी दिक्कत से।

सारा विश्व जिस सभ्यता के अंचल में अपने को सुरक्षित कर सकता है उसी का अनुयायी एक भारतीय हिन्दू जब गान्धी प्रेम में विह्वल हो तो उसे हिन्दू-दर्शन फीका लगेगा, निज की संस्कृति में सन्देह और भय लगने लगेगा तथा अपना मत्था टेक देगा, गान्धी-दर्शन पर गान्धियन संस्कृति के चरणों पर और उसे विश्वास हो जायगा-"अब मुक्ति है; इसी में श्रेय है–न केवल मेरा वरन् विश्वका।" यदि उसके सन्देह ने सर ऊंचा किया तो उसका दूसरा साथी यह कह कर शंका निवारण कर देगा "सन्देह और अविश्वास अश्रद्धालु के चिन्ह हैं। ऐसों को मुक्ति नही मिलती, गान्धी जी की फिलासफी हिन्दू-धर्म का ही परिष्कृत अङ्ग है।" वह फिर वही का वहीं पहुँच जायगा। तब उसे क्या आवश्यकता रही जो वह राम, कृष्ण, बुद्ध शंकर और दयानन्द को याद करे? वह क्यों भारत के अतीत के इतिहास पर गर्व करे? उसके गान्धी ने उसे आश्वासन दे दिया है कि राम-राज्य स्थापित होगा इस धर्म राज्य की स्थापना के लिये उसने आवाहन किया कि नल नील की भांति आओ और उनकी सत्याग्रही सेना में सम्मि-

लित हो जाओ। सब ही तो पुराना मामला है-भावनओं का पुतला भोला हिन्दू जायगा किधर? गान्धीजी का हरिजन प्रेम शवरी के जूठे वेर खाने वाले राम से अधिक खरा है, उनका त्याग-तपस्या से पूर्ण जीवन भगवान् बुद्ध के गृह-त्याग से अधिक करुणामय और आकर्षक है। गौ रक्षा के हामी गान्धीजी कृष्ण भगवान के रूप में गोपाल हैं। कीर्तन प्रेमी भक्त के लिये भी गान्धीजी के पास बहुत कुछ है; रामधुनि और 'वैष्णव जन तो तैने कहिये' का अनवरत संगीत मय उच्चारण उसे मोहने के लिये पर्य्याप्त है।

एक पक्का मुसलमान, जिसका, विवेक रूढ़ियों और अन्ध विश्वास ने जर्जरित कर डाला हो, यह सुन कर कितना खुश होता होगा कि गान्धी जी ने कुरानशरीफ पढ़ी है, उन्हें अल्लाह-ताला के कलाम से मुहब्बत है और हरिजनों के लिये किये गये आमरण-व्रत की समाप्ति पर उन्होंने कुरान की आयतें सुनी थीं। हज़रत मुहम्मद को बकरियों से प्रेम था, उसके गांधी को भी बकरियां ही भाती हैं। उसने भी बकरीको गौमाता के बराबर बकरी माता कह कर खड़ा कर दिया है। उसकी खिलाफत के लिये उसके गाँधी ने हिन्दुस्तान को खलबला डाला, हिन्दुओं से भी अरब के गीत गवा दिये।

प्रभु ईसा-मसीह दुनिया की खातिर सलीब पर चढ़कर अमर हो गये, और क्षमा तथा दया की एक मिसाल कायम

कर गये। उसी ईसा के नाम की क्रास लटकाये हुये भावुक ईसाई को गांधीजी में ईसा की रोशनी झलकती है। ईसा के सन्देश फैलाने के लिये गांधीजी आये हैं—यह उसका विश्वास है।

दिमाग़ पर बिना ज़ोर डाले हम केवल गान्धीजी तक ही पहुंच सकते हैं। वे ही हमारे पथ-प्रदर्शन के लिये ध्रुव-तारा का काम करते हैं। वे जब मरण-व्रत करते हैं तो हमारा देश करुणा--सागर बन जाता है, झोपड़ियों से लेकर महलों तक में बैठे हुये रात दिन, भारतीय शुभ--कामनाएं करते हैं। फूंस की झोपड़ियों से बने हुये उसके शेगांव के आश्रम में हमारी श्रद्धा अटकी रहती है। वह हमारा तीर्थ स्थान बन गया है। इसी आश्रम से निकल कर जब वह वायसराय को उपदेश देने के लिये वेगवान ई० आई० आर० के डिब्बे में कदम रखता है तो देश--वासियों का हृदय आशा पूर्ण हो कर उछलने लगता है। उसकी लुटी हुई आज़ादी वे अपने उपदेशों से प्रभावित कर के लावेंगे और शेगांव की कुटी में बैठकर कांग्रेस के सुपुर्द कर देंगे। कैसी जोरदार कल्पना है यह !

गान्धी क्रान्तिकारी भी हैं। बड़े बड़े क्रान्तिकारियों ने अपने हथियार उनके चरणों पर डाल दिये। आन्दोलनकारी गान्धी-धरसाना के नमक को लूटने के लिये जाने वाली सत्याग्रहियों की फौज का सेनापति गान्धी–मानो लेनिन के

देश रूस की विद्रोही बोल्शेविक-सेना मास्को पर चढ़ाई कर उसे पापी ज़ार के कुशासन से मुक्त करने के लिये जाने की भांति, हाथ में बॉस की डंडिया लिये और कमर में डोरी से बंधी हुई समय-चक्र की सूचना देने वाली घड़ी को देखते हुये, आगे वढ़ रहा है और पलक मारते वृटिश-साम्राज्य का तख्ता उलट देगा। तब ऐसा सोचते समय पीड़ितों के देश भारत की समस्त ममता और प्रेम उसको अर्पित करदी जाती है।

वह प्राणी-मात्र का हितैशी है। पूंजीपति उसके पूर्ण जीवन की कामना करता है-क्यां कि उसका गान्धी पूंजी-वादियों का विनाश नही चाहता, वह उन्हें अपनी पूंजी का ट्रस्टी बनाना चाहता है। पूंजीवाद का शिकार मज़दूर, जो दु खी जीवन की कहानी बन गया है, गान्धी जी को अपना त्राता समझता है-क्योंकि वे उसके अत्यल्प वेतनको बढ़ाना चाहते हैं। ज़मीदार भी उससे प्रसन्न है और अवसर आने पर थैलियां भेट करने में नहीं चूकता-क्योंकि वे ज़मींदारियों को खत्म करके उसे इतिहास की कथा नही वनाना चाहते। किसान इस आशा से गान्धी की जै बोलता है कि उसका गान्धी लगान कम करवायेगा। किसान को इससे अधिक चाहने का शऊर ही नही है। वृद्ध और मरे दिल के नौजवान गान्धीजी के अनुयायी हैं, क्योंकि उनके पीछे चलने में खतरा कम है—धरना देने और गान्धी-टोपी लगा लेना ही

पर्याप्त है। "चर्खा कातो और स्वराज्य लो!" इससे अधिक आसान स्वतन्त्रता-युद्ध और क्या हो सकता है? गांधी जी की अहिंसा के शत्रु और सशस्त्र क्रान्ति का स्वप्न देखते हुये, जेल की एकान्त भयानक कोठरी में जीवन बिताता हुआ क्रान्तिकारी जब सुनता होगा कि गान्धीजी ही उसके छुटकारे के लिये आन्दोलन कर रहे हैं, तो निश्चय ही उसकी श्रद्धा उनके व्यक्तित्व में अटक जाती होगी। बुद्धि-जीवी मध्यम-वर्ग के शिक्षितों को भी गांधीजी से किसी प्रकार का भय नहीं है-क्योंकि वे समाज की व्यवस्था में कोई भूचाल लाकर उनकी स्थिति को अस्त-व्यस्त नहीं करना चाहते। समझदार राजनीतिक जिसे अपनी बुद्धि पर अत्यन्त गर्व हो, ऐसा लिबरल नेता भी गांधी जी की समझदारी और जिम्मेदारी की कद्र करता है - क्योंकि उसका ख्याल है कि मतभेद के रहते हुए भी यदि उसकी किसी से पटरी बैठ सकती है तो ऐसे अकेले गांधीजी ही हैं। उसे यह भी विश्वास है कि सत्याग्रह युद्ध का सञ्चालक गांधी, जब अपनी निराली लड़ाई लड़ेगा तो पञ्च बनकर वह फैसला करा सकेगा।

और यदि इस प्रकार के जीवों में न होकर, कोई उनका विरोधी है तो वे अपनी महानता, सदाशयता, व्यावहारिकता तथा उदारता से उसे जीतने का प्रयत्न करेंगे। बहुधा ऐसे अवसर कम ही आते हैं, जब गांधी जी इसमें असफल होते

हों। हाँ, केवल दो बड़ी मिसालें जरूर ही ऐसी हैं, जिन्हें अपवाद कहा जा सकता है। लार्ड विलिङ्गटन और राजकोट के वीरवाला पर उनके प्रयोग कम सफल हुए हैं। मिस्टर मुहम्मदअली जिन्ना तो अभी उनकी प्रयोगशाला में ही हैं – यद्यपि कभी-कभी जिन्ना साहब जबरदस्ती उससे भाग जाते हैं, परन्तु प्रयत्न बराबर जारी है। हिन्दू महासभा को पूर्ण रूपसे उन्होंने अपनी प्रयोग-शालासे अलग कर दिया है,और इसका कारण इतना मात्र कहा जाता है कि वह'हिन्दू-महासभा' है। परन्तु हिमालय से भी महान् गांधी ऐसों को भी क्षमादान करते रहते हैं—क्योंकि ये सब अज्ञान हैं। प्रभु ईसामसीह ने भी कुछ ऐसा ही कहा था। ऐसा विचित्र हमारा गांधी है। इतने के पश्चात् भी क्या कोई सन्देह है कि इस युग को गांधी-युग न कहा जाय? वे युग-निर्माता हैं और हम हैं, उसमें सांस लेकर जीने वाले क्षुद्रतम प्राणी। यही कारण है कि कोई गांधीजी को बुद्धि की कसौटी पर कस कर नहीं समझ सकता। वे एक अवतार हैं और बक़ौल डाक्टर पट्टाभिसीतारमैया के, हमें इसी कारण से गांधी जी पर केवल विश्वास भर करना चाहिये। समझने समझाने की सीमा से गांधीजी बाहर हैं।

लेकिन, इस पुस्तक का लेखक एक दुस्साहस करने जा रहा है। उसकी हार्दिक इच्छा है कि गांधी जी को सही मानियों में मुल्क समझे। वह यह खूब अच्छी तरह

जानता है कि किसी युग-निर्माता को समझने का प्रयत्न करना खतरे से ख़ाली है। इसकी उसे सज़ा भी मिलेगी। गांधी-भक्त और उनकी भक्ति का दम भरने वाले 'देशद्रोही तथा उद्दण्ड' की पदवियों! से लेखक को विभूषित करेंगे। परन्तु उसने अब इतना साहस कर लिया है कि वह इन पद-वियों! को भी सहन कर सकेगा। विचार स्वातन्त्र्य का और परिणाम हो ही क्या सकता है? हलाहल (ज़हर) का प्याला पीना पड़ता है, लेखक को तो यह मिलने का नहीं-क्योंकि देश में अहिंसा का वायुमण्डल बन रहा है। फिर वह अधिक चिन्ता क्यों करे?
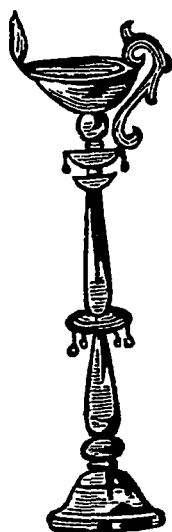
गान्धीजी के जीवन पर एक दृष्टि.

सी निद्रित देश को जगाना एक मुश्किल काम है, परन्तु इससे भी अधिक मुश्किल काम क्रूरता-पूर्ण उद्दण्ड-शासन के अन्तर्गत सोई हुई प्रजा को चैतन्य करना है, तथा इससे भी एक क़दम आगे, यह तो और भी बड़ी मुश्किल का काम है, जो किसी विदेशी-शासन में जकड़े हुये पराधीन देश को जगाये, जिसमें गुलामी के नशे की नींद कूट-कूट कर भरी हो। संयोग से हमारा देश हिन्दुस्तान इसी श्रेणी का है। वह ऐसे शासन के नीचे है, जो अत्यन्त क्रूर है, क्योंकि वह पूर्णतया विदेशी है।

परन्तु इतना ही अलम् नहीं है। इन मुश्किलों से भी एक और बड़े दर्जे की मुश्किल वह है, जब ऐसा देश जाग कर खड़ा होता है, तथा कोई पथ-प्रदर्शक उसका नेतृत्व करके ध्येय तक पहुँचाया करता है। किसी भी महापुरुष और सफल नेता की वास्तविक कसौटी यही है।

निस्सन्देह गान्धीजी ने भी जगाने वाली उन प्रभातियों में अपना एक विशेष स्थान रखा है, जो समय २ पर देश को जागरण का सन्देश देती रही हैं। परन्तु यह मानना ज़रा

तरीकेका आन्दोलन किया, उसका भी परिणाम हमारे सामने है, और यदि उस युगके नेताओं का नेतृत्व, समय की गतिके साथ वेगवान् होता जाता तो हम अपनी आंखों से आज तक स्वतन्त्र भारत का चित्र देख लेते अथवा देखने के निकट होते। और आज तो यह कल्पना भी पहाड़ में सर मारने जैसी हो रही है। अब तो हमारा साध्य, साधन एवं साधक सभी कुछ अहिंसा का अस्वाभाविक रूप धारण किये हुए है। आज़ादी कहां है—इसका पता भी तो नहीं है। यह एक कटु सत्य है - जिसे कहे बिना नहीं रहा जा सकता। अस्तु आइये, हम जिस युग-निर्माता पर आगे लिखने जा रहे हैं उसका छिटका हुआ परिचय भी आपके सामने पेश करें। इससे एक सुविधा होगी, गांधीजी को समझने में आपको मदद मिलेगी। जिन परिस्थितियों में गांधीजी का निर्माण हुआ उससे परिचय हो जाने पर यह समझना आसान होगा कि गांधी-युग का यह रूप क्योंकर हुआ।

असफल गांधी

मोहनदास करमचन्द गांधी नामका एक युवक, जिसका लालन पालन वैष्णव वायुमण्डल में हुआ था, दीवान बनाये जाने के लिये, वैरिस्टरी पास करने इङ्गलैण्ड गया और आशाओं को लिये हुए जब वह अपने देश को वापिस लौटा तो एक असफल वकील सिद्ध हुआ। यही असफलता उसके लिये वरदान सिद्ध हुई, और क्या उसके सहयोगी, क्या

विरोधी, सभीने उसका युग-निर्माता होना स्वीकार किया। एक समय वह भी था जब यही असफल वकील सिर्फ १५० पौण्ड के मेहनताने पर, १८९३ ई० में दक्षिण अफ्रीका एक दावे के सिलसिले में गया था। दक्षिण-अफ्रीका का प्रवास गांधीजी के लिये आंखें खोलने वाला साबित हुआ। गांधीजी के हृदय में, दूर देश से आये हुए एक पराधीन नागरिक पर, शासक जाति की ओर से जो छाप अङ्कित की जाती है, उसकी प्रतिक्रिया होना प्रारम्भ हुई।

वैरिस्टर के साथ दुर्व्यवहार

बिलायत से लौटे हुए बेरिस्टरी पास, अपटुडेट साहब को अपने ही देश काठियावाढ़ के पोलेटिकल एजेण्ट के चपरासी द्वारा बंगले से खदेड़ दिया जाता है, और जब बेचारा वही साहब वैरिस्टर की हैसियत से दूरदेश भी जाये तो रेलवे ट्रेन के पहिले दर्जे के डिब्बे में से धक्के मार कर नीचे ढकेल दिया जाय, तथा सर्दी में अपना हैंडबेग लिये रात भर कुड़कुड़ाता रहे — तो कैसी भावनाएं उसके हृदय में उठी होंगी, इसका अनुमान आज के बापू गांधी से अच्छा दूसरा नहीं कर सकता है। उन अवसरों पर गांधी जी के साथ जो कुछ बीती थी, उनकी आत्म कथा में आज भी लिखी हुई उस यादगारको ताजा कर रही हैं। हम देशवासी उसे भूले नहीं हैं और सम्भवतः गांधीजी भी। नहीं

कहा जा सकता कि उस दुर्व्यवहार का परिणाम गांधीजी के लिये ठीक वैसा ही नहीं हुआ जो दक्षिण अफ्रीका में उन गिरमिटिया मजदूरों पर हुआ था — जिन्हें गोरे मालिकों द्वारा अमानुषिक यन्त्रणाये दी जाती थीं और वे परवश होने के कारण 'तू मुझे मार, तुझे खुदा मारेगा' कह कर सन्तोष कर लेने थे।

इसकी प्रतिक्रिया

व्यक्ति के हृदय पर आघात पड़ना, उसकी ज़िन्दगी की धारा का बदलना हुआ करता है। एक दुखी, दूसरे को दुखी देखकर अमूमन उसके प्रति सहानुभूति प्रकट किया करता है। गांधीजी भी किसी प्रकार इन घटनाओं से प्रभावित थे। ऐसे ही बैरिस्टर गांधी को दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयोंके दुख बेचैन कर देते, और वे काले रंगके गुलाम हिन्दुस्तानियों के खिलाफ बर्ती जाने वाली नीति के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करने लगते हैं।

ज़ुल्म की ये कहानियाँ सुनानेके लिये आप हिन्दुस्तान भी आये। कांग्रेस के १६०१ ई० के कलकत्ता-अधिवेशन में आपने हिस्सा लिया और दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों की स्थिति के बारे में एक प्रस्ताव पेश किया और फिर अफ्रीका वापिस चले गये। ट्रांसवाल में 'ड्राफ्ट एशियाटिक ला एमेंडमेन्ट बिल' के द्वारा भारतीयों के और भी अधिकार छीने जारहे थे। आपने इसका विरोध करने के लिये 'निष्क्रिय

प्रतिरोध सङ्घ' की स्थापना की और आन्दोलन प्रारम्भ किया। फलतः १९०७ ई० में आपको तथा आपके साथियों को सज़ा हुई। सत्याग्रह के सार्वजनिक रूप का वह एक प्रयत्न था। उसके फलस्वरूप समझौता सा हुआ। यह सत्याग्रह का अनिवार्य परिणाम था। इस युद्ध का अन्त शासक अथवा जिस शक्ति के विरुद्ध सत्याग्रह किया जाय; के रहम पर निर्भर हुये समझौते के रूप में ही हुआ करता है। गान्धी जी के पहिले सत्याग्रह में यही हुआ था और आखिरी सत्याग्रह में भी होगा तथा जिस प्रकार जनरल स्टमस ने उस पहिले समझौते को रगड़ दिया, उसी प्रकार आखिरी समझौता, जो कि शायद सन् १९३१ ई० में हो चुका है, रगड़ दिया गया। हां, जब उस समझौते का अन्त हो गया तो ६ नौम्बर सन् १९१३ को फिर सत्याग्रह छेड़ दिया गया, और गान्धीजी, अपने साथियो के जत्थे के साथ परवाना कानून को तोड़ने के लिये ट्रांसवाल की ओर चले और गिरफ्तार कर लिये गये। माननीय गोखले ने गान्धीजी द्वारा उठाये गये कदम के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की और घनघोर आन्दोलन किया। इसका नतीजा यह हुआ कि गान्धीजी और जनरल स्टमस में एक समझौता फिर हुआ। भारतीयों की कुछ मांगे स्वीकार की गईं और कुछ की पूर्ति के लिये आश्वासन मिला। इस प्रकार ३० जून १९१४ को गान्धीजी के दक्षिण-अफ्रीका के आन्दोलन का अन्त हुआ।

निष्कर्ष

दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के बीच जिस सत्याग्रह का बीजारोपण किया गया था, वह आज भी पल्लवित हो रहा है। जब-जब उन पर परेशानियां टूटती हैं तो वे विचारे गांधीजी से सत्याग्रह करने की इज़ाजत मांगते हैं। उनकी परेशानियों का अन्त नहीं हो पाया है। हां ! सत्याग्रह की कृपासे उनकी शक्ल बदलती रहती है। केवल किसी नीति के परिणाम के विरुद्ध यदि सत्याग्रह-आन्दोलन किया जाय तो यह मुमकिन है कि उसमें कुछ सफलता मिले, सो गांधी जी को मिली भी, परन्तु उस नीति पर इसकी प्रतिक्रिया क्या हुई ? किसी विष-वृक्ष की एक-आध शाखा काट भी दो तो वे फिर उग आयेंगी। जैसे शाखा काटने मात्र के प्रयत्न से उस विष-वृक्ष का फलना-फूलना नहीं रोका जा सकता, वैसे ही किसी कुशासन की कुछ बातो को लेकर आन्दोलन करने से उसका अन्त नहीं हो सकता। सत्याग्रह की कमज़ोर कुल्हाड़ी में शाखा मात्र काटने की क्षमता है, मूल की नहीं। यही कारण है कि दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीय की समस्यायें आज तक हल नहा हो पाई हैं। उस कुशासन की जड़ें हिन्दुस्तान की गुलामी से भी खुराक पाती हैं। दक्षिण अफ्रीका की सफलता से गान्धीजी चाहे भले ही सन्तुष्ट हों परन्तु वास्तविकता यह है कि सन्तोष का कोई अवसर ही नहीं है। यों सत्याग्रही हर हाल में खुश रहे, तो कोई मुज़ायका नहीं !

हिन्दुस्तान में

अपने सत्याग्रह के अनुभव को साथ लिये, आप उसी वर्ष स्थायी रूप से भारतवर्ष चले आये। इस समय तक, अपनी फिलासफी को हिन्दुस्तान में भी फैलाना चाहिये, ऐसा दृढ़ विश्वास आप का हो चुका था, और इसका प्रमाण इससे अच्छा क्या हो सकता है कि आने के कुछ समय बाद ही, इधर-उधर घूम कर आप एक आश्रम बनाने की फिक्र करने लगे, जहां पर बैठकर सारे देश में गान्धी-युग की जै-जैकार बुलवाई जा सके। ऐसा मौज़ू स्थान आपको मिला भी, और अहमदाबाद में आश्रम जमा दिया गया। यह आश्रम उन वीतराग भारतीय ऋषियों जैसा न था, जिस में निवृत्ति मार्गका उपदेश होता हो, न यह क्रान्तिकारियों का ऐसा हेड कार्टर ही था, जहां से विद्रोही-सेना के सञ्चालन का आदेश दिया जाता हो; यह तो भारत को गान्धी-युग की नियामत देने का एक प्राथमिक प्रयत्न था। संयोग से उनका यह मंशा पूरा हुआ भी। इसी आश्रम को केन्द्र बनाकर देश में यत्र-तत्र प्रचार करना प्रारम्भ किया गया। केवल प्रचार ही नहीं, कुछ छोटे-मोटे मसलों पर सत्याग्रह की कला भी आज़माई गई। चम्पारन के किसानों का मसला, अहमदाबाद के मज़दूरों की हड़ताल, खेड़ा-सत्याग्रह, कुछ ऐसे प्रयोग किये गये, जिन्होंने गांधीजी की ओर देश का ध्यान आकर्षित कर दिया। सफल प्रोपोगेन्डिस्ट गांधीजी के लिये यह कुछ मुश्किल न था।

बिना शर्त साम्राज्य की मदद

इन कामों से गांधीजी की ख्याति देश में काफी हो चुकी थी। यूरोपीय महायुद्ध भी शुरू हो चुका था। आपकी फिलासफी ने देश को बिना किसी शर्त के बृटिश-साम्राज्य की सहायता करने का आदेश दिया और जो कुछ इसका बदला बृटिश-साम्राज्य को देना चाहिये था, जब उसने दिया तो फिर उसका उपयोग भी आपने ही किया। यह बात भी करीब-करीब उसी मास्टर से मिलती-जुलती थी, जो बकरियों को शेर के लिये खुराक पहुंचाने की आज्ञा दिया करता था, और जब वे दूध लेकर उसके सामने गईं तो उसने बड़े मज़े में मास्टर साहब का शुक्रिया अदा करते हुये अपने खुदा को दुआयें दी और उन दूध की थैलियाँ भरे हुये बिना, सुरक्षा की शर्त लिये आई हुईं बकरियों को चट करने की फिराक में लगा-तो मास्टर साहब नाराज़ हुये और उन्होंने शेर को हिंसात्मक खूं-ख़ार-जन्तु घोषित करके बकरियों को सत्याग्रह के लिये प्रेरित किया तथा रोज एक-एक बकरी बारी २ से शेर के सामने धरना देने के लिये जाने लगीं। शेर इसके सिवाय और चाहता ही क्या था?, उसका इसमें नुकसान ही क्या था? हाँ! कभी कभी उनके जुलूसों के नारे उसकी नींद में खलल जरूर डाल दिया करते थे; पर पूरी खुराक मिलने के कारण उस शोरोगुल में उसे सोने का अभ्यास हो गया था।

साम्राज्य का बदला

साम्राज्य ने इस सहायता का बदला रौलट-एक्ट के रूप में दिया। जनता का नाराज होना स्वाभाविक ही था। उसे यह बदला पसन्द न आया और वह आन्दोलित हुई। गांधी जी ने भी २२ फर्वरी १६१९ ई० को सत्याग्रहियों का प्रतिज्ञा पत्र प्रकाशित कर दिया। देश में आन्दोलन लहरा उठा। दिल्लीमें गोली चली, जलियांवाला बाग मे खून का दरिया बहाया गया और अन्त में हिंसा की बू आने के कारण १८ अप्रैलको सत्याग्रह स्थगित भी कर दिया। इतना ही नहीं, १९१६ की अमृतसर-कांग्रेस में मांट-फोर्ड सुधारों को स्वीकार करने के लिये डट कर ज़ोर लगाया।

असहयोग

इधर देश में पञ्जाब के दमन-काण्ड को लेकर असन्तोष बढ़ रहा था। मुसलमान भी खिलाफत पर सङ्कट देखकर गरम हो रहे थे। गान्धीजी ने मौका देखा, और असहयोग की तुरही फूंकनी सोची। १ ली अगस्त १६२० ई० को सारे देश में हड़ताल रही। कलकत्ता तथा नागपुर की कांग्रेस में आपके असहयोग आन्दोलन के कार्य-क्रम को स्वीकार किया गया। देश में व्यापक-रूप से एक नई चीज़ फैलना शुरू हुई। आन्दोलन वेगवान गति से बढ़रहा था कि गांधी जी को हिंसा नज़र आने लगी और चौराचौरी-काण्ड को

ईश्वरीय-चेतावनी समझ कर आन्दोलन बन्द कर दिया। लेकिन अंग्रेज सरकार की बदसलूकी देखिये, उसने १० मार्च १६२२ ई० को आपको गिरफ्तार कर ही लिया और ६ वर्ष के लिये जेल की सज़ा दे दी। १६२४ ई० में आप बीमारी के कारण छोड़ भी दिये गये, इसी वर्ष अगस्त में दिल्ली में हिन्दू मुस्लिम दङ्गा हुआ। २१ दिन का आपने व्रत किया। उस आध्यात्मिक व्रत को कितनी सफलता मिली, इसके लिये १९४० के भारत पर एक नज़र डालनी चाहिये। व्रत के प्रयोगके पश्चात् आप बेलगांव-कॉंग्रेसके सभापति बनाये गये।

सन् ३०—३२ के आन्दोलन

१६२८ की कलकत्ता-कांग्रेसमें आपकेप्रयत्नसे नेहरू-रिपोर्ट के प्रश्न पर उग्र और नरमदलमें समझौता हुआ और सरकार को उस पर विचार करने के लिये एक वर्ष का समय दिया गया। परन्तु सरकार की ओर से इसका कोई उत्तर नहीं दिया गया। २३ दिसम्बर सन् १६२९ ई० को लाहौर जाते हुये आप वायसराय से मिले, पर कोई नतीजा न निकाला जा सका। आख़िर को रावी के तट पर ३१ दिसम्बर की आधी रात के पश्चात् पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की गई।

१५ फर्वरी सन् १६३० ई० को अहमदाबादमें होने वाली कांग्रेस वर्किङ्ग-कमेटीकी बैठक में आपको सत्याग्रह-आन्दोलन का सर्वेसर्वा बना दिया गया। सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। नमक क़ानून टूटा, और भी क़ानून टूटे, लगान-बन्दी भी छुट-पुट

रूप में हुई, सरकार के खिलाफ़ डट कर प्रदर्शन हुये। तात्कालिक वायसराय लार्ड इर्विन ने आर्डीनेन्स निकाले, देश भर में दमन हुआ। समझौते की चर्चायें चलीं, और जयकर सप्रू साहब की बीच-बिचौअल से ५ मार्च १९३१ ई० को एक अस्थायी समझौता हुआ। फलतः सत्याग्रही छोड़ दिये गये, और नमक-क़ानून में थोड़ी ढील करदी गई। करांची-कांग्रेस में गांधीजी को ही द्वितीय राउण्डटेबिल कान्फ्रेन्स के लिये काँग्रेस का एक-मात्र प्रतिनिधि चुना गया। आप शामिल हुये, पर कूटनीतिज्ञ अंग्रेज़ों ने आशावादी गांधीजी को खाली हाथों लन्दन से वापिस कर दिया। हिन्दुस्तान के लिये वह समय परेशानी का था। गांधी जी के आने के पूर्व ही नये वायसराय लार्ड विलिंगडन समझौते का क्रिया करम कर चुके थे, और देश में डण्डे का राज्य शुरू हो चुका था। गांधीजी को वापिस आकर सर्वथा बदली हुई परिस्थिति मिली। आते ही आते आपने वायसराय से मिलने के लिये मिन्नतें कीं, पर न मिल सके। फलतः बाक़ायदा पुनः सत्याग्रह शुरू कर दिया गया। ४ जनवरी १९३२ ई० को गांधी जी गिरफ्तार करके शाही-कैदी बना दिये गये। शाही-कैदी की दशा में ही आपने २१ सितम्बर १९३२ ई० को हरिजनों को दिये जाने वाले पृथक् निर्वाचन के अधिकार के खिलाफ़ आमरण-व्रत शुरू किया। तुरन्त ही सवर्ण और हरिजन हिन्दुओं में पूना-पैक्ट के नाम से एक समझौता

हुआ, और २६ सितम्बर को साम्राज्य द्वारा मंजूर किये जाने पर गांधीजी ने अपना व्रत भंग कर दिया।

पीछे की ओर

८ मई १६३३ को अपने साथियों की अपवित्रता को दूर करने के लिये आपने २१ दिन का उपवास किया। उपवास शुरू ही हुआ था कि सरकार ने आपको झट छोड़ दिया। रिहाई के बाद भी व्रत को पूरा किया, और व्रत समाप्त होजाने के पश्चात् सरकार से समझौता करने की ग़रज़ से सत्याग्रह-आन्दोलन को ६ सप्ताह के लिये स्थगित कर दिया। परन्तु सरकार की ओर से कोरा जबाव मिला। पूना में नेताओं की एक अनियमित कान्फ्रेन्स हुई। गांधीजी ने यह समझ कर, कि सत्याग्रह-आन्दोलन में गुप्त तरीक़े स्तैमाल किये जाते हैं; सत्याग्रह के सामूहिक रूप को समाप्त कर दिया। कॉग्रेस-कमेटियां ख़त्म कर दी गईं, केवल व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह करने की आज्ञा दी गई। इस निश्चय के पश्चात् ३१ जुलाई को पूना की सीमा पार न करने के प्रतिबन्ध को तोड़ने के कारण आप गिरफ्तार कर लिये गये, और शाही-कैदी न बनाये जाकर एक वर्ष की सज़ा दे दी गई। पहिले नज़रबन्दी की हालत में आमरण-व्रत का फैसला होजाने के बाद से, आपको जेल से ही हरिजन-आन्दोलन चलाने की आज़ादी दे दी गई थी, परन्तु इस वार कैद की सज़ा दी जाने के कारण वह सुविधा न मिल सकी। इसी बात पर

१६ अगस्त से आपने फिर उपवास आरम्भ कर दिया। सरकार ने भी २३ अगस्त को मुक्त कर दिया। इस छुटकारे के बाद, हरिजन-आन्दोलन के सिलसिले में आपने सारे देश का दौरा किया।

कौन्सिलों पर नज़रेइनायत

७ अप्रैल १६३५ ई० को आपने देश से व्यक्तिगत-सत्याग्रह करने का भी अधिकार ले लिया, और केवल-मात्र अपने लिये ही यह अधिकार सुरक्षित रक्खा। साथ ही इसके कौन्सिल-प्रवेश के कार्यक्रम का उतने ही जोरों से समर्थन किया जितनी सन् १६२४ ई० में यह कहकर मुखालफत की थी कि—"मैं ऐसे कार्य मे स्वयं कोई सहायता नही दे सकता जिसमें मेरा विश्वास नही है।" साम्प्रदायिक बंटवारे के प्रश्न पर आपने तटस्थता ग्रहण की। बंगाल; पंजाब तथा सभी राष्ट्रीय विचार रखने वाले हिन्दुओ ने इस तटस्थता की नीति का घोर विरोध किया। इस विरोध के बावजूद भी गाँधीजी ने अपनी तटस्थता का फैसला कायम रखा। बम्बई-कांग्रेस के अवसर पर, आपने एक सनसनीखेज़ घोषणा कांग्रेस से हट जानेकी की, और ग्राम-उद्योग-संघ का कार्य अपने हाथों में लिया।

वैधानिक दृष्टि से कांग्रेस से हट जाने पर भी आप कांग्रेस की नीति के संचालक बराबर बने हुये हैं। सन् ३५ के विधान के अनुसार बनने वाली प्रान्तीय परिषदों का

चुनाव भी, आपके ही आशीर्वाद की छत्रछाया में लड़ा गया। भारतवर्ष के ११ प्रान्तों में से ८ प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें कायम की गईं। इन सरकारों के बनने के पश्चात् गांधी युग के विरोध में आवाज उठना प्रारंभ हुई।

हरिपुरा-कांग्रेस के लिये सुभाष बाबू सभापति चुने गये। उनके निर्वाचन में आपका ही हाथ था। दूसरी बार त्रिपुरी कांग्रेस के सभापतित्व के लिये सुभाष बाबू ने गांधी जी की इच्छा के विरुद्ध चुनाव लड़ा। यद्यपि वे कामयाब होगये लेकिन आख़ीर में उन्हें स्तैफा देना ही पड़ा, और गांधी-युग को कांग्रेस से धक्का लगते-लगते बच गया।

त्रिपुरी कांग्रेस (१९३९ ई०) के कुछ ही पहिले, राजकोट के ठाकुर साहब के वचन-भंग के सिलसिले में, आपने आमरण व्रत करना प्रारम्भ किया था, जो वायसराय के हस्तक्षेप से समाप्त हुआ। परन्तु बाद मे आपको ज्ञान हुआ कि वह व्रत हिंसा-पूर्ण था।

इसी वर्ष सितम्बर में द्वितीय यूरोपीय महा युद्ध शुरू हो गया। वृटिश साम्राज्य भी इसमें शामिल है। भारतवर्ष की सहायता उसके लिये इस संकट के मौके पर बहुत कीमती साबित होगी, इस लिये गान्धी-युग वाले हिन्दुस्तान के नेता गान्धीजी को वायसराय साहब ने भेंट के लिये बुलवाया। आपने भेंट के पश्चात् तुरन्त ही इस आशय का वक्तव्य दे दिया कि ब्रिटेन को चाहे जिस

प्रकार की सहायता दी जाय पर वह हो बिना शर्त की। कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी ने युद्ध के उद्देशों की सफाई चाही गान्धीजी ने इसका भी समर्थन किया। चूंकि ब्रिटिश सरकार की ओर से वायसराय की घोषणा के बावजूद भी कोई सन्तोष-जनक उत्तर नही मिला, इसलिये गान्धी-जी के नेतृत्व में कॉग्रेस ने सरकार से असहयोग कर दिया और ८ प्रान्तों के कॉग्रेस मन्त्रि मण्डलों को त्याग पत्र देने की आज्ञा दी तथा उन्होंने त्याग पत्र दे भी दिये। कॉग्रेस वर्किङ्ग कमेटी ने अपने आपको गान्धीजी के हाथों में पूर्णतया सौंप कर उन्हें सत्याग्रह चलाने या न चलाने का पूरा अधिकार सौंप दिया है, फिर भी गान्धीजी की राय में यह समय सत्याग्रह के लिये अनुपयुक्त है-क्योंकि देश में तथा कॉग्रेस-जनों तक में से हिंसा के भाव पूर्णतया दूर नही हुये है।

भारत मे गान्धी-युग का यह एक अत्यन्त संक्षिप्त परिचय है, जो कांग्रेस के साथ २ इन पंक्तियों के लिखने के समय तक किसी प्रकार से चल रहा है। कभी २ ऐसे अवसर भी आये कि इस युग में धक्का लगता ज्ञात हुआ, परन्तु आपने बड़ी कुशलता पूर्वक उस धक्के को बर्दाश्त किया और गान्धी-युग की जिन्दगी को कायम रक्खा, और बहुत मुमकिन है, कुछ दिनों तक इसे ओर भी कायम रखने में गान्धीजी कामयाब हों।

परन्तु !

जब हम देखते हैं कि अपने ध्येय की ओर कितने वढ़े, तो हमारी आंखों के सामने एक ऐसी कहानी आती है, जो एक बादशाह को इस शर्त पर सुनाई जारही थी कि उसका कहीं अन्त न होगा। कहानी कहने वाले ने बाग की भूमिका बांध कर हुर्र-हुर्र की आवाज से चिड़ियां उड़ाना शुरू किया, और चिड़ियां उड़-उड़ कर फिर बैठती रहीं तथा न हुर्र २ बन्द हुई न चिड़ियाँ उड़ पाईं और न कहानी का ही अन्त होने को आता क्योंकि कहानी बिना चिड़ियों से बाग को खाली किये खत्म नही हो सकती थी। बादशाह सलामत कहानी कहने वाले की कुशलता पर मुग्ध हुये हुक्के की निगाली से मुंह लगाये धुआँ छोड़ते जा रहे हैं, और कहानी कहने वाले को कभी न खत्म होने वाली शर्त पूरी होते देख कर अपनी होशियारी पर नाज भी हो रहा है। इस गान्धी-युग का भी इसी से मिलता-जुलता हाल है। यह भी उस कहानी जैसा मज़ाक है जो भारत की स्वतन्त्रता के साथ किया जा रहा है। यही नही इस कहानी के कथानक में वह पूर्णता भी नही है जो उस कहानी में थी। कैसी-कैसी भयानक गलतियां इस युगके प्रवर्त्तकने कीं, उसकी फिलासफीमें कितनी शक्ति है, और वह आज़ादी दिलाने की क्षमता क्यों नही रखती ? इन्हीं प्रश्नों पर अगले अध्यायों में विचार किया जायगा।

गान्धी-युग में.

खें मिचमिचाते हुये जब हम उठे, चैतन्य हुये तो हमने देखा कि हमारा देश-दूत उसी स्वर तथा ताल में वही अपनी कहानी कह रहा है कि— सत्याग्रह करो ! ऐसा सत्याग्रह, जिसके क़ाबिल न हम हैं और न यह देश ही। लेकिन यह उसकी खूबी है कि वह अपनी रट लगाये हुये है। उसका यह अदम्य-धैर्य्य, अपने आदर्श के प्रति दृढ़—अनुराग, देश को आकर्षित करता है और यही ममता या यों कहिये लगातार के संसर्ग से उत्पन्न मोह, उसकी कहानी को सुनने के लिये विवश कर रहा है। २० वर्ष से भी अधिक हुये, उसने अपने को देश के सामने पेश किया था और आज यह अवसर है कि कांग्रेस के नेतृत्त्व के रूप में देश उसके सामने पेश है और वह मनचाही गति से, जो उसके दृष्टि-कोण से ठीक तथा वास्तविकता की दृष्टि से निकम्मी है, अपनी ताल पर नचा रहा है, इसे क्या कहा जाय ? भाग्य या दुनिया का कायदा ! परन्तु अब हम थक गये हैं, यह देखते-देखते कि सूत्रधार को चाहे भले ही मज़ा मिल रहा हो–अपनी चीज़ के फूलने-फलने पर मिलना भी चाहिये– लेकिन देश की आज़ादी की समस्या एक ओर पड़ी अपने भाग्य को रो रही

है। हम सन्तोष भी कर लेने, यदि दार्शनिक होते। "सृष्टि का कभी न समाप्त होने वाला क्रम चल रहा है, पूर्णता इसी में है कि तटस्थ-भाव से देखते रहो।' लेकिन हम एक ऐसे मानव-प्राणी हैं जिसमें अपनत्त्व है, कुछ आशाएं हैं और जिनकी पूर्ति देखने की लालसा भी है। हम साथ ही इसके भारतीय हैं, पराधीन भारतीय! और इसी कारण से हमारी तृप्ति का रहस्य केवल देश की स्वाधीनता मे ही है. यही हमारा युग-धर्म है। इसी धर्मको पालने से हम अपनी संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। जो इससे हटा कर हमारी शक्तियों को दूसरी ओर लगाता है वह हमारे साथ हित नहीं करता, और यदि हम फिर भी बेवकूफ बने रहें तो निश्चय हीं हम स्वय अपने शत्रु बनेंगे।

हम जानते हैं कि इस समस्या पर विचार प्रकट करना कुछ कम आसान नहीं है। गान्धी-युग असफल रहा है— आज़ादीके ख्यालसे-यदि सहसा एकबार में ही कहदिया जाय, तो देश में एक अजीब तरह की भावना काम करने लगेगी। उसने इतने वर्ष खोये, वह अभी तक भयानक भूल में पड़ा रहा, इसका जब उसे ख्याल आयेगा तो निराशा सर उसकाने का प्रयत्न करेगी। लेकिन हो क्या? वास्तविकतातो यही है। हमारी कोशिश होनी चाहिये, कि ऐसा मातम न मनाएं। गान्धी-युग ने भी हमें एक देन दी है, उससे सबक मिला है कि आज़ादी का रास्ता सिर्फ एक है, और वह है पुराना,

बहुत पुराना। जिस पर चलकर पराधीन जातियां आज़ाद हुआ करती हैं तथा उसकी रक्षा किया करती हैं। इस लिये हमें समझना चाहिये, कि इस युग ने कभी न भूलने वाली एक नसीहत दी है। यदि इतने के लिये उसका कृतज्ञ हुआ जाय तो इसमें कोई हर्ज न होगा।

इसी ख्याल को लेकर, हम गांधी-युग की मुख्य मुख्य हलचलों का सिंहावलोकन इस अध्याय में करेंगे।

जलियांवाला बाग़

२० वर्ष पहिले की बात है—जब कि गांधी-युग का प्रारम्भ हो चुका था, ६ अप्रैल १९१९ के दिन रौलट-एक्ट के विरुद्ध प्रदर्शन किया गया था। प्रदर्शन क्या, सत्याग्रह का श्रीगणेश था। हिन्दू-मुसलमान एक हो रहे थे, उनके नारे एक थे, झण्डे एक थे, मसजिद की गुर्ज पर खड़े होकर हिन्दू नेता बोलते और जनता–जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे—"अल्लाहो-अकबर!" की ऊंची आवाज़ से जोश का वायु-मण्डल बनाते। चूंकि इस प्रकार के व्यापक-जोश का वह पहिला ही मौका था, और यदि पहिला न भी होता तो भी–इसलिये गांधीजी के ख्याल से कुछ गलतियां हो जाना लाजिमी था। ये गलतियां चाहे स्वत विशेष महत्व-पूर्ण न हों, ख़ास कर आज़ादी की जङ्ग के ख्याल से, परन्तु अहिंसक-खुर्दबीन से इनकी शक्ल का बड़ा दिखलाई पड़ना

अनिवार्य्य है। जनता के मनोविज्ञान पर जब हम ग़ौर करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे ग़लतियाँ उस जोश का निश्चित परिणाम थी।

यह कैसे मुमकिन हो सकता है कि तिनका के पास चिनगारी रखी जाये और आग न लगे। ऐसा करने वाला अगर बाद में आग लगने को शिकायत करे तो यह उसकी भूल ही कही जायगी। उन। गलतियों में, कुछ स्थानों मे आग लगाना, ट्रेन पर पत्थर फेंकना, कुछ अंग्रेजों पर पत्थर फेंके जाना ही आदि मुख्य गलतियां कही गईं थी। यह घटनायें उत्तर-भारत में, विशेष कर पंजाब में ही हुईं थी।

एक तरफ ऐसा वृटिश विरोधो वायु-मण्डल वन ही रहा था, कि इतने में कभी न भूलने वाला १३ अप्रैल का दिन आया। अमृतसर के जलियांवाला बाग में, एक बड़ी हाजिरी की सभा हुई। उपस्थिति २० हजार के आस पास थी। इतने में यकायक जरनल डायर ने अपने सिपाहियों के जरिये से शान्त जनता पर गोलियां चलाना शुरू कर दिया। सभा-स्थल की जगह, घिरी हुई थी। अतएव भीड़ तितर-वितर न हो सकी, और काफी संख्या में लोग, साम्राज्य के पोषक—डायर की गोलियों के शिकार हुये। वैसे तो घायलों तथा मृतकों की संख्या बहुत अधिक बताई जाती है, परन्तु सरकारी रिपोर्ट के अनुसार भी जो कि निसन्देह इन मामलों में अधिक कंजूस हुआ करती

है, ४०० व्यक्ति मरे और एक दो हजार के बीच घायल हुये। इस हत्याकाण्ड की शहादत में जलियांवाला बाग़ आज भी एक ट्रस्ट के रूप में कायम है। उसके पास की दीवारें गोलियों की चोटों से छिदी हुई हैं और ऐसा लगता है कि टूटे हुये दिल को लेकर वे वृटिश-साम्राज्य के ज़ुल्म की कहानियां कह रही हैं। इतना ही नहीं, ज़ुल्म की हद खुले-आम वेत लगवाने के सिवाय, पेट के बल चलवाने तक पहुंच गई थी। लगभग पूरे पंजाब पर संगीन की नोंक का शासन हो गया था। फांसी और काले-पानी की सजायें अपनी अहमियत खो बैठी थीं—क्योंकि उनको भरमार हो गई थी। चौराहे पर नंगा करके, खुले आम बेंत लगवाना तो इतना मामूली था जैसे आज भी फौजो-गोरा किसी भी हिन्दुस्तानी को 'यूडेम' कह दिया करता है। परन्तु पंजावने इन्हें वर्दाश्त किया। इस सहन—शक्ति की प्रतिक्रिया अज्ञात रूप से मुल्क पर जो होनी चाहिये थी, सो हुई भी। इस हत्या-काण्ड को लेकर सारे मुल्क में साम्राज्य के प्रति नफरतके भाव भर गये। हां, दमन अत्यन्त कठोर होने के कारण एक प्रकार की तात्कालिक घबड़ाहट भी पैदा हो गई थी। अमूमन ऐसी घबड़ाहट क्षणस्थायी हुआ करती है और शीघ्र ही स्वतः नष्ट होजाया करती है।

जागरूक नेता होने की हैसियत से, गांधीजी इन परिस्थितियों को ग़ौर के साथ देख रहे थे। पञ्जाब में जो

घटनाएं हुईं, उनसे उन्हें तीव्र आन्तरिक-क्लेश हुआ। उन्हें लगा कि उनसे हिमालय के समान भूल हुई है; और उन्होंने तुरन्त ही सत्याग्रह के उस भोंड़े-रूप को स्थगित कर दिया। साथ में यह घोषणा भी की कि—"मैं शान्ति स्थापित करने में हर प्रकार की सहायता करने को तैयार हूं" परन्तु सरकार ने शान्ति, इस अपील के पहिले ही डायरशाही का राज्य करके करदी थी—न सही प्रसन्नता बढ़ाने वाली शान्ति, स्मशान-शान्ति तो थी ही ! नहीं कहा जा सकता कि गांधीजी ने शान्ति-स्थापना की अपनी इच्छा को कैसे पूरा किया ? इतना अवश्य हुआ कि "यङ्ग-इण्डिया' के कालमके कालम पञ्जाब-समस्या पर भरे गये। विनोद में उसे अखबारी सत्याग्रह कह सकते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष सत्याग्रह गांधीजी स्थगित कर चुके थे।

पञ्जाब पर मुश्किलों के पहाड टूटे और फिर भूल भी मान ली गयी। कैसा सुन्दर निर्णय था ? हां, कभी-कभी जलियां वाला-दिवस के रूप में उसकी धुंधली-स्मृति उन घटनाओं को ताज़ा कर जाती है, और तब हमारे दिलों में एक धक्का लग जाता है। ऐसी दशा में हम चर्खे की ओर ताकने लगते हैं और कुछ-कुछ शान्ति ! सी मिलने लगती है। वाक़ई में, इस तरह ज़रूर ही गांधीजी ने शान्तिस्थापना में सहायता दी है और इसके लिये राष्ट्र उनका कृतज्ञ भी है। किसी आकर्षक वस्तु को प्राप्त करने के लिये मचलते

हुये बच्चे को यदि फूटे-घड़े की आवाज़ से बहला कर शान्त कर दिया जाय, तो बच्चे के प्रति वह कोई छोटी सेवा न होगी। हमारा नेता जानता था कि उसके देश-वासी कोई हलचल चाहते हैं, तथा वह किसी भी प्रकार की हो सकती है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता !

इसके पश्चात् २१ का असहयोग आन्दोलन आया। खिलाफत के प्रश्न पर हिन्दू-मुस्लिम "हमप्याला-हमनिवाला" हो रहे थे। हिन्दुस्तान के मुसलमान उस खिलाफत की रक्षा करने के लिये जान दे रहे थे, जिसे तुर्की के मुसलमानों ने स्वयं ही हमेशा के लिये बीते हुये का एक पृष्ठ कर दिया है। गान्धीजी के लिये यह एक अनुकूल अवसर था। उन्होंने समझा कि अहिंसा के प्रयोग करने के लिये, हिन्दू-मुस्लिम-एैक्य के फर्जी आधार पर बनी हुई प्रयोग-शाला भी काफी शानदार होगी। ख्याल है कि गान्धीजी के इशारे पर, उस समय का अधिकांश मुस्लिम-भारत था। कौन जाने यह बात ठीक थी, अलवत्ता यह आवाज आज तक बुलन्द है कि उस समय गान्धी बाबा अली भाइयों की जेब में कैद थे। मुमकिन है कि इस आत्म-समर्पण पर किसी नाज़ुक ख्याल शायर की तबियत उछल पड़े, परन्तु वास्तव में वे दिन भारत के दुर्भाग्य-सूचक थे। कैसे ग़लत प्रश्न पर, हिन्दुस्तान की समस्याओं का सम्बन्ध जोड़ा

गया तथा आज भी उसका फल भोगना पड़ रहा है। उस समय गान्धीजी ने हिन्दुओं के सामने खिलाफत के नाश का करुण चित्र मिन्नतभरी भाषा में खींचा। उदार हिन्दू जनता को लगा कि सचमुच में उसे इस महान अन्याय का प्रतिकार करना चाहिये। मुसलमान के लिये तो खिलाफत का प्रश्न वक़ौल गान्धीजी के "मुसलमानों की मांग न्याय-पूर्ण है और जैसा मैं समझता हूं वह न्यायपूर्ण है और धर्म-ग्रन्थ से उसका प्रतिपादन होता है ... —एक अहम सवाल वनगया था। भला फिर वह हिन्दू का सहयोग क्यों न चाहता? उन दिनों इस आधार पर ज़हर से सनी हुई एकता हमारे गलों में उतारी जा रही थी। गान्धीजी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के एक मित्र को खिलाफत के वारे में-उत्तर देते-हुये लिखा था कि " .... वास्तव में सच यही है कि आत्मा की प्रेरणा से ही मैंने खिलाफत आन्दोलन को अपना प्रधान अंग कर लिया है और मुसलमानों के साथ दिल मिलाया है। मेरे मित्र की यह आशंका निर्मूल नहीं है कि मैं हिन्दू तथा मुसलमानों में मेल करा-कर सद्भाव पैदा करने का प्रयत्न कर रहा हूं।" कौन जानता था कि गान्धीजी का यह प्रयत्न लम्बे अर्से के लिये दो जातियों के वीच दुर्भाव पैदा करने की जड है, और मुसलमान को ग़लत तहरीक में पड़ने का पहिला सबक़ है, जिसे याद करके वह मुश्किल से भूलेगा।

जनता के मनोविज्ञान की घाटियों से परिचित गान्धी-जी ने एकबार तो ऐसा कर दिखाया कि हिन्दू-मुसलमान एक हो गये हैं। गान्धीजी ने देश के हिन्दू-समाज को इतना मोहित कर लिया कि वह अपनी गुलामी की पीर को भूल गया। अंग्रेजी सल्तनत ने उस पर क्या क्या मज़ालिम किये, इसे भी गौण स्थान दिया। और वह लगा अपनी सभ्यता, संस्कृत, देश तथा धर्म के सोलहो विपरीत खलीफा के गुण गाने। उसकी बेकसीको देखकर एक हिन्दू का दिल भर आया करता था, मानो राम को हमेशा के लिये बनवास मिल रहा है। गान्धीजी ने ऐसा क्यों सोचा और किया, इसका उत्तर हमारे पास नहीं है, और यदि है भी तो वह कथित उत्तर है जिस पर विश्वास करने के मानी यहहोंगे कि हम विरोध के प्रवाह में घटनाओं को छोड़कर दायें-बायें बह गये। बहरहाल यह सत्य है कि गान्धीजी ने बड़े प्रेम से यह मर्सिये सुने तथा डट के दाद दी। ऐसी कमजोर और लचीली बुनियाद पर वह एकता चल रही थी। वास्तविकता तो यह है कि गान्धीजी का यही एक नेतृत्व ऐसा है जिसकी कसक को भूलना मुश्किल है। ओफ़! आन्दोलन कैसी-कैसी ओछी बातों को लेकर चल सकता है, इसका जिन्दा प्रमाण खिलाफत आन्दोलन में गान्धीजी का नेतृत्व था। हमारे इस दावे में और भी बल प्राप्त होना है जब हम देखते हैं कि लोकमान्य-तिलक को भी वह आन्दोलन पसन्द न था।

असहयोग का प्रस्ताव

पंजाब की घटनाओं की जाँच करने के लिये सरकार ने एक कमेटी मुकर्रिर की थी। उसने अपनी हण्टर रिपोर्ट २८ मई १९२० को प्रकाशित की। कांग्रेस ने कमेटी की रिपोर्ट को वर्ग द्वेष-पूर्ण और वृटिश न्याय का दिवाला करार दिया। अभी तक खिलाफत के प्रश्न को लेकर ही हलचल थी और अब साथ में यह मामला भी जोड़ दिया गया। साथ ही इसके कलकत्ते के विशेष अधिवेशन (१९२०) में गान्धीजी का असहयोग का प्रस्ताव भी पास हुआ। प्रस्ताव इस प्रकार था —

"चूंकि खिलाफत के प्रश्न पर भारत व ब्रिटेन दोनों देशों की सरकारें भारत के मुसलमानों के प्रति अपना फर्ज अदा करने में खास तौर से असफल रही हैं और ब्रिटिश-प्रधान मन्त्री ने जान-बूझ कर उन्हें दिये हुये वादे को तोड़ा है और चूंकि प्रत्येक गैर-मुस्लिम भारतीय का यह फर्ज है कि अपने मुसलमान भाई पर आई हुई धार्मिक-विपत्ति को दूर करने में प्रत्येक उचित उपायों से सहायता करे।"

"और चूंकि अप्रैल १९१९ की घटनाओं के मामले में उक्त दोनों सरकारों ने पञ्जाब की बेकसूर जनता की रक्षा करने में और उन अफसरों को सजा देने में जो पञ्जाब की जनता के प्रति असभ्य व सैनिक धर्म-विरुद्ध आचरण करने के दोषी ठहरे हैं, घोर लापरवाही की है और चूंकि उक्त दोनों

सरकारों ने सर माइकेल ओडायर को, जो अफसरों द्वारा किये गये बहुत से अपराधो के लिये स्वयं प्रत्यक्ष-रूप से उत्तरदायी था, और जिसने जनता के दुःखों व कष्टों की सरासर अवहेलना की, बरी कर दिया; और चूंकि इङ्गलैण्ड की लॉर्ड-सभा में हुये वाद-विवाद से भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति का दुःखपूर्ण अभाव स्पष्ट प्रकट होगया है और पञ्जाब में सुसङ्गठित-रूप से आतङ्क और त्रास फैलाया गया है; ओर चूंकि वाइसराय की सबसे ताजी घोषणा इस बात का प्रमाण है कि खिलाफत व पञ्जाब के मामलों पर तनिक भी पछतावे का भाव नहीं है। अत इस कॉंग्रेस की राय है कि भारत में तब तक शान्ति नहीं हो सकती, जब तक कि उक्त दोनों भूलों का सुधार नहीं किया जाता। राष्ट्रीय सम्मान की मर्यादा को कायम रखने के लिये और भविष्य में इस प्रकार की भूलों को दोहराने से बचाने के लिये उपयुक्त मार्ग केवल स्वराज्य की स्थापना ही है। इस कांग्रेस की यह राय है कि जब तक उक्त भूलों का सुधार न होजाय और स्वराज्य की स्थापना न होजाय, भारतवासियों के लिये इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है कि वे गांधीजी द्वारा सञ्चालित क्रमिक अहिंसात्मक असहयोग की नीति को स्वीकार करें, और अपनावें।"

और चूंकि इसकी शुरुआत उन लोगों को ही करनी चाहिये, जिन्होंने अब तक लोकमत को बनाया और उसका

प्रतिनिधित्व किया है, और चूंकि सरकार अपनी शक्ति-का सङ्गठन लोगों को दी गई उपाधियों व सम्मान से, अपने द्वारा नियन्त्रित स्कूलों से, व अपनी अदालतों व कौंसिलों से ही करती है, और चूकि आन्दोलन को चलाने में यह वाञ्छनीय है कि कम से कम खतरा रहे और वांछित उद्देश की सिद्धि के लिये आवश्यक कम से क्रम त्याग का आवाहन किया जाय, यह कांग्रेस सरगर्मी के साथ सलाह देती है कि —

(अ) सरकारी उपाधियों व अवैतनिक पदों को छोड़ दिया जाय और जिला और म्यूनिसपलवोर्ड व अन्य संस्थाओं में जो लोग नामजद हुए हों, वे इस्तीफा दे दे।

(ब) सरकारी दरबारों, स्वागत-समारोहों तथा सरकारी अफसरो द्वारा किये गये या उनके सम्मान मे किये जाने वाले अन्य सरकारी व अर्ध-सरकारी उत्सवों में भाग लेने से इनकार किया जाय।

(स) सरकार के, सरकार से सहायता प्राप्त करने वाले व सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूल व कालेजों से छात्रों को धीरे-धीरे निकाल लिया जाय; उनके स्थान में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राष्ट्रीय स्कूल व कालेजों की स्थापना की जाय।

(द) वकीलों व मुवक्किलों द्वारा ब्रिटिश अदालतों का धीरे-धीरे बहिष्कार हो और उनकी मदद से खानगी झगड़ों को तय करने के लिये पञ्चायती अदालतो की स्थापना हो।

(य) फौजी, क्लर्की व मजदूरी करने वाले लोग मेसोपोटामिया में नौकरी करने के लिये भर्ती होने से इनकार करें।

(फ) नई कौंसिलोंके चुनाव के लिये खड़े हुये उम्मीदवार अपने नाम उम्मीदवारी से वापिस ले लें और यदि कांग्रेस की सलाह के बावजूद कोई उम्मीदवार चुनाव के लिये खड़ा हो तो मतदाता उसे वोट देने से इनकार करें।

(ज) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय।"

"और चूंकि असहयोग को अनुशासन व आत्म-त्याग के एक साधन के रूप में पेश किया गया है, जिसके बिना कोई भी राष्ट्र सच्ची उन्नति नहीं कर सकता, और चूंकि असहयोग के सबसे पहिले युग में ही हर स्त्री पुरुष व बालक को इस प्रकार के अनुशासन व आत्म-त्याग का अवसर मिलना चाहिये, यह कांग्रेस सलाह देती है कि एक बड़े पैमाने पर स्वदेशी वस्त्रों को अपनाया जाय; और चूंकि भारतीय श्रम व प्रबन्ध से चलने वाली भारत की वर्तमान मिलें, देश की जरूरियात के लिये पर्याप्त सूत व कपड़ा तैयार नहीं कर सकतीं और न ही इस बात की कोई सम्भावना है कि एक लम्बे अर्से तक वे ऐसा करने में समर्थ हो सकें, यह कांग्रेस सलाह देती है कि हरेक घर में हाथ की कताई को फिर से और देश के इन असंख्य जुलाहों द्वारा, जिन्होंने अपने पुराने व सम्मानित पेशेको उत्साह न मिलनेके कारण छोड़ दिया

था, हाथ की वुनाई को पुनरुज्जीवित करके वड़े पैमाने पर वस्त्रों की उत्पत्ति तुरन्त ही वढ़ाई जाय।"

इसके पश्चात् जिस तौर पर यह असहयोग आन्दोलन चला, वह कोई छिपी हुई वात नही है। ऐसा लगा कि भारत की रूठी हुई आजादी जेल की कोठरी में वैठी हुई है और यह असहयोगी वीर उसे मनाने के लिये ही जेलों में जा रहे हैं। जेल को उस जमाने में कृष्ण मन्दिर समझा जाता था। विद्यार्थियों ने स्कूल छोड़े और वकीलों ने अदालतें। उस जमाने की वनी हुई मोटी-भद्दी खादी के डवल कुर्तों और गांधी टोपियों की वाढ़ सी आगई। इस जोश पर गान्धीजी के वक्तव्य ने और भी रंग चढ़ा दिया कि यदि मेरे कार्यक्रम को पूरा कर दिया जाय तो १ वर्ष में स्वराज्य मिल जायगा। लेखक का उस आन्दोलन के समय वाल्यकाल था और उसे कुछ २ याद है कि फूलों के वेडौल हार डाले वालन्टियरों की टुकड़ियां निकलती थीं तथा जो आम तौर पर मर्सिया के तर्ज का गाना गाया करती थीं।

लेकिन, क्या उस आन्दोलन में लड़ाई की कोई ठोस चीज थी? इसमें कोई शक नही, भावनाएं काफी थीं, मर मिटने की उमङ्ग थी, पर ध्येय की अस्पष्टता और राजनीति शून्य कार्य-क्रम तथा गांधियन-आध्यात्मिकता के नेतृत्व के कारण इन गुणों का उपयोग न किया जा सका। इस

सम्बन्ध में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के साथी-श्री गणेश श्रीकृष्ण खापर्डे का यह मत भुलाने योग्य नही है कि कलकत्ता कांग्रेस के प्रस्ताव कांग्रेस की शक्तियों को आत्म-बल व नैतिक-श्रेष्ठता प्राप्त करने की दिशा में तौले जाते हैं लेकिन प्रश्न के राजनैतिक-पहलू को विलकुल भुला देते हैं। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि सन् २१ का आन्दोलन, वुद्धि पर भावना की ओर राजनीति पर गांधीजी की आध्यात्मिकताकी विजय थी, तथा एक प्रकार से उन्होंने ही अपने हाथों से उसे समाप्त भी कर दिया।

आन्दोलन स्थगित हुआ

५ फर्वरी १९२२ की उस मनहूस घड़ी ने, जिसमें चौरा-चौरी की उत्तेजित भीड़ ने वहां के सिपाहियों और दरोगा को थाने में खदेड़ आग लगा कर जला दिया था, गांधीजी को यह प्रेरणा मिलने का मौका दिया कि उनके कानोंमे शैतान कह रहा है "…जनाव! आपने वड़े लाट को आखिरी चेतावनी दी और उसका उत्तर मिलने पर फिर लम्वा-चौड़ा प्रत्युत्तर दिया—उसका क्या करोगे? वस हो चुका, सव! ……… …"करीव-करीव तमाम आधुनिक कार्य-क्रम को एक दम पीछे ले लिया जाना राजनीतिक दृष्टि से भले ही अदूर-दर्शिता तथा वुद्धिमत्ता-शून्य काम समझा जाय, पर यह तो नि सन्देह सत्य है कि वह धार्मिक

दृष्टि से बड़ा ही अच्छा और विचार-पूर्ण काम हुआ।" असल में गांधीजी ने ऐसा कह कर देश के सामने खुले शब्दों में यह बात पेश करदी कि उन्हें राजनीतिक बुद्धिमत्ता जैसी चीज से सख्त नफरत है। कम से कम उनके ऊपर के शब्दों से तो यही झलकता है।

हां, तो आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और गांधीजी ने घोषित कर दिया—जैसी हालत है उस में सत्याग्रह "सत्याग्रह" नहीं, "दुराग्रह" होगा। ऐसा ही हुआ और आन्दोलन बन्द कर दिया गया। गांधीजी भी जेल चले गये। कुछ दिनों के बाद, देश की सुस्ती दूर करने के लिये कांग्रेस ने एक सत्याग्रह-कमेटी मुकर्रिर की। कमेटी ने देश भर में दौरा करके सिफारशें कीं। इन सिफारशों की मुख्य बातें यह थीं— (१) देश सामूहिक-सत्याग्रह के लिये तैयार नहीं है, (२) कौन्सिल-प्रवेश, ३ मेम्बरों के विरोध के साथ, (३) स्थानीय-बोर्डोंमें जाना, (४) स्कूलों का वहिष्कार जारी रहे, (५) वकीलों पर से प्रतिबन्ध उठा लिये जांय और पञ्चायतें स्थापित हों, (६) मजदूर-सङ्गठन, (७) आत्म-रक्षा का अधिकार, यानी कानून के भीतर आत्म रक्षा की स्वतन्त्रता सब को दी जाय। हां, जब कांग्रेस का काम कर रहे हों, या उसके सिलसिले में कोई अवसर उपस्थित हो जाय तो दूसरी बात है। पर इस बात का हमेशा ख्याल रहे कि इसमें खुल्लमखुल्ला हिंसा की नौबत न आ जाय। धर्म के मामले में,

स्त्रियों की रक्षा करने में, या लड़कों और पुरुष पर अत्याचार होने पर शारीरिक-बल का प्रयोग किसी हालत में मना नहीं है ।-(८) अंग्रेजी माल का बहिष्कार। परन्तु अगस्त १९२२ में होने वाली कांग्रेस महा-समिति की बैठक में केवल एक सिफारिश ही स्वीकार की गयी कि देश सामूहिक-सत्याग्रह के लिये तैयार नहीं है। हां, समिति ने प्रान्तीय-काँग्रेस कमेटियों को अधिकार दे दिया कि यदि कोई मौका आये तो वे अपने उत्तरदायित्व पर महदूद-शक्ल में सत्याग्रह करने की मञ्जूरी दे सकती है। कौन्सिल-प्रवेश का कार्य-क्रम बाद में दिल्ली के विशेष अधिवेशन में स्वीकार किया गया था।

अच्छा स्वराज्य मिला ?

पाठक जरा पीछे की ओर चलें, और गांधीजी के दिये हुये उस 'यदि' सहित आश्वासन की प्रतिक्रिया देखें कि एक वर्ष में स्वराज्य मिल जायगा। जब यह अवधि समाप्त हुई थी, तब गांधीजी जेल के बाहर ही थे। उस समय लोगों में बेचैनी बढ़ रही थी और लोगोंकी श्रद्धा गांधीजी के आन्दोलन से हटना शुरू हो गई थी। वाकया तो यह है कि जनता की भावनाओं से खेल कर के अराजनीतिक तरीके पर जो भी आन्दोलन उठाया जायगा, उसका ऐसा दुखद अन्त होना लाजिमी ही है। एक जले-दिल भाई से न रहा गया और उन्होंने गांधीजी को तार देकर स्वराज्य-प्राप्ति के

लिये बधाई तक दे दी। कैसा कठोर किन्तु सत्य व्यङ्ग था वह? परन्तु वाहरे साहस, गांधीजी ने फिर भी मान लिया कि स्वराज्य मिल गया। उन्होंने २२ जनवरी १९२२ के "यङ्ग-इण्डिया" में लिखा कि "..............स्वराज्य तो मनोदशा है। जब इस मनोदशा की प्रतिष्ठा हमारे हृदय में होगी तभी उसकी प्रतिमा स्थापित होगी। पर जबसे हमारी मनोदशा बदल गई, बस तभी से स्वराज्य तो मिल ही चुका।" देश को, तब कहीं जाकर पता चला कि गांधीजी का स्वराज्य क्या है? शायद उसने महसूस किया हो, यह उसकी गलती थी जो उसने अंग्रेजों से राजनीतिक लड़ाई लड़ने के रूप में आन्दोलन का साथ दिया। वह क्या जानता था कि केवल मनोदशा बदलने मात्र के ही ये सब सामान हैं। यदि ऐसा होता, तो वह लिबरल-फेडरेशन के झण्डे के नीचे आकर प्रचार करके ही मनोदशा बदल देती।

साम्प्रदायिक-दङ्गे क्यों ?

जब यह स्वराज्य ! मिल गया तो उसके प्राप्त्यर्थ चलने वाली लड़ाई का भी पूरा-पूरा खात्मा हो गया। इस आन्दोलन के सिलसिले में कुछ जन-जागृति हो चुकी थी। लड़ाई सी तो वह थी ही-पर लक्ष्य-विहीन। फिर भी लोगों में एक प्रकार की ऐसी स्प्रिट पैदा हो गई थी, जिसमें हाथ पर हाथ रखे बैठना नामुमकिन होगया था। ब्रिटिश-सरकार

से खेल न हो तो आपस में ही दाल बटी जाय ! फिर ऐसी दशा में हिन्दू-मुसलमानों में दङ्गे क्यों न शुरू होजाते ?

हिन्दू और मुसलमानों के मेल का जो शतरञ्जी-किला गान्धीजी ने बनाया था, उसमें नींव न थी। भुसके ऊपर लीप कर उस किले में सौन्दर्य्य लाया गया था। भला फिर वह अधिक दिनों तक कैसे टिकता ? उसका गिरना लाज़िमी था, उसकी ईंट ईंट की बर्वादी निश्चित थी। वही हुआ भी, और आज तक उस किले की ईंटों को आपस में बजा-बजा कर खूनी फाग खेला जा रहा है।

यह मुमकिन था कि इस एकता के किले की कलई कुछ दिनों बाद खुलती, परन्तु असहयोग-आन्दोलन के बन्द हो जाने पर तुरन्त ही उसका पर्दा फाश हो गया। इन साम्प्रदायिक दंगों के बारे में पण्डित जवाहरलालनेहरू ने अपनी आत्मकथा में बड़ी सुन्दरता से अपने विचारों को प्रकट किया है। आन्दोलन को बोतल में बन्द करने के परिणामों की उन्होंने बड़ी दिलचस्प विवेचना की है। एक स्थान पर यह भी लिखा है कि "इसमे कोई शक नहीं हमारी आजादी की लड़ाई में स्पष्ट आदर्शों और ध्येयों की कमी ने साम्प्रदायिक ज़हर को फैलाने में मदद दी। जनता को स्वराज्य की लड़ाई का उनकी रोजमर्रा की तकलीफों से कोई ताल्लुक नहीं दिखाई दिया। वे कभी-कभी अपनी सहज बुद्धि से प्रेरित होकर खूब लड़े। लेकिन वह हथियार इतना

कमजोर था कि उसे आसानी से कुण्ठित किया जा सकता था और दूसरी तरफ दूसरे कामों के लिये भी उसका स्तैमाल किया जा सकता था। उसके पीछे कोई तर्क तथा विवेक न था।" इस ख्याल के मुताबिक गान्धीजी के उस नेतृत्व की कितनी कीमत थी, यह पाठक ही अन्दाज लगायें, और उसका फल जो कुछ मिला उसे भी देखें। कौन नहीं जानता कि उस आन्दोलन के पश्चात् होने वाले दंगों की वजह से ब्रिटिश साम्राज्य को हमारा ऐसा मर्मस्थल मिल गया है जिस पर वह मौके-वे-मौके प्रहार करती रहती है।

तो क्या यह माना जाय कि उन भयङ्कर साम्प्रदायिक दंगों का उत्तरदायित्व गान्धीजी के सर पर हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस भांति दिया जा सकता है कि गान्धीजी हिन्दुस्तान के उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये दिल से काफी कोशिशें की हैं। परन्तु उनका तरीका सोलह आने गलत था। मुसलमानों और हिन्दुओं को एक डोरी में बांधने का यह तरीका हरगिज सफल नहीं हो सकता कि उनको खलीफा के लिये दुआयें करने का आदेश दिया जाय तथा उसे इस्लाम का एक हिस्सा बनाकर मज़हबी पागलपन उनमें और भी भर दिया जाय। गान्धीजी द्वारा कराई गई इस गलत एकता के पहिले, कम-से-कम आपस में सर फोड़ने की

हवा इतने जोर से नहीं चल पाई थी। करीब-करीब तटस्थता का भाव था। लेकिन गलत बुनियाद पर, दो जातियों के मिलने के पश्चात्, जब वह बुनियाद खिसकती है तो उसका मनोवैज्ञानिक परिणाम तटस्थता नही रहता, बल्कि कटुता को लेकर वे जातियां अलग होती हैं। वही हुआ भी, और आज तक हो रहा है। भारत अखण्ड-राष्ट्र है, यह दावा भी गलत साबित किया जा रहा है।

अपरिवर्तनवादी गांधी

असहयोग-आन्दोलन की समाप्ति पर, और गांधीजी के जेल से रिहा होने के बाद, कौंसिल-प्रवेश का जो संघर्ष चला उससे गांधीजी का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। यद्यपि उनके नाम पर वोट अवश्य मांगे गये थे, और स्वराज्य-पार्टी के उम्मीदवारों को विजय 'गांधीजी की जय' के नारों से गुजाई जाती थी। गांधीजी ने तो स्पष्ट कह दिया था कि "अपने स्वराजी मित्रों के साथ कांग्रेस वादियों के द्वारा कौंसिल-प्रवेश के जटिल प्रश्न पर बात-चीत करने के बाद मुझे दुख के साथ कहना पड़ता है कि मैं उनसे सहमत न हो सका। ......मेरी अब भी यही सम्मति है कि असहयोग के सम्बन्ध में जैसी मेरी धारणा है, उसके अनुसार कौंसिल-प्रवेश असंभव है।" परन्तु ऐसा मानते हुये भी गांधीजी ने "कौंसिलों में स्वराजियों के काम को

लगभग अपना आशीर्वाद दे दिया।" कौंसिलों के भीतर स्वराज्य पार्टी ने जो काम किये, यद्यपि वे सुधारवाद और विधानवाद की ओर झुके हुये थे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्होंने सरकार से एक प्रकार का कानूनी संघर्ष किया, और उसका समाचार--पत्रों के जरिये जो प्रचार हुआ उससे देश को राजनीतिक चेतना भी प्राप्त हुई। इससे अधिक कौंसिलों में और किया भी क्या जा सकता है?

अपरिवर्तनवादियों ने, या कहिये गांधी-भक्तों ने भी उस समय इतना मात्र भी कर पाया था, यह कहना दिक्कत तलब है। हां, इन लोगों ने निम्न श्रेणी की जनता से अपना कुछ सम्बन्ध किसी हद तक रखा। यह सम्बन्ध राजनीति से शून्य था। इसके कारण थे; और यदि इन्हें व्यापक रूप में पेश न किया जाय, तो पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि "अपरिवर्तन वादी महात्मा जी के कट्टर अनुयायी मानें जाते थे, लेकिन महापुरुषों के दूसरे सब अनुयायियों की तरह वे भी उनके उपदेशों के सार को न मानकर उनके अक्षरों के अनुसार चलते थे। उनमें सजीवता और संचालन शक्ती नही थी, और अमल में उनमें से ज्यातर लोग लडाकू नही थे, और सीधे-साधे समाज सुधारक थे ·····।"

इस बीच में भी गांधीजी कांग्रेस को गांधी छाप की कांग्रेस बनाये हुये थे। उनका चर्खा जोरों से चलरहा था, और

उसके सूत से कांग्रेस अजीब तरीकों के साथ बांधी जा रही थी। जब कांग्रेस का बहुमत उसमें उलझने को राजी न होता तब वे झट कहने लगते कि 'मुझे कांग्रेस के मार्ग में और अधिक खड़ा न होना चाहिये।' इसका मतलब साफ ही था कि या तो उनकी बात मानी जाय या वे इस्तैफा दे देंगे। इस धमकी पर मामला ठीक हो जाता और फिर वही चर्खा चलने लगता।

सत्याग्रहके बीज :—

बारदोली—सत्याग्रह

अब हमें गांधी-युग के उस दौर पर विचार करना है जिसमें देशका वायु-मण्डल ब्रिटिश-विरोधी हो रहा था। १९२८ में एक ओर जहां साइमन-कमीशन के सफल-बहिष्कार के कारण मुल्क आन्दोलित हो रहा था, वहां बारदोली सत्याग्रह ने भी प्रचार का समाँ बांध दिया था। १९२१ में भी यहां पर सत्याग्रह शुरू होने वाला था, पर हिंसा फूट पड़ने के कारण रोक दिया गया था। इत्तिफाक से उसी इलाके में बन्दोबस्त आ गया, और लगा, कि मालगुजारी बढ़ने वाली है। सत्याग्रह शुरू हुआ और गांधीजी के लेफ्टी-नेन्ट श्री पटेल ने उसका नेतृत्व किया। कर-बन्दी हुई, और सरकार ने जैसी आशा की जाती थी, उसने दमन के रूप में उत्तर दिया। देश में इसकी खूब चर्चा रही। अन्तमें सम-

भौता हुआ। आन्दोलन वापिस लिया गया, कैदी छोड़े गये, जायदादें वापिस की गईं, मालगुजारी बढ़ी—लेकिन इस रूप मे जब कि बढ़ाई गई मालगुजारी को एक तीसरे आदमी ने जमा कर दिया। इसी सत्याग्रह की बदौलत श्री पटेल, सरदार पटेल होगये और देश उन्हें इसी नाम से अब तक याद कर रहा है।

पाठक यहां इस बात का ध्यान रखें कि इन हलचलों से ३० के आन्दोलन की भूमिका तैयार हो रही थी।

व्यापक दौरा

दरिद्रनारायण! के लिये धन प्राप्त करने को, गांधीजी ने एक व्यापक दौरा शुरू कर दिया था। दरिद्रनारायण के नाम पर निकले हुये महात्मा को देखने के लिये, दरिद्र देश की जनता हजारों की तादाद में आती, और दरिद्र-मन्त्र चर्खें का सन्देश सुनती। मोटी नज़र से देखने पर दौरा कामयाब सा लगता, भीड़-भड़क्का होता, जयों के बोल से आस्मान गूंजता और भावी सत्याग्रह के लिये जिस तरह की जमीन बनाने की आवश्यकता होती, सो भी बनती जाती। पं० जवाहरलाल नेहरू ने, जिनका हृदय गांधीजी के संकेत पर चलता, इस दौरे के सम्बन्ध मे अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया है कि "मै सारे युक्तप्रान्त के दौरे मे उनके साथ न रहा, क्योंकि मेरा उनको कोई खास उप-

योग नहीं हो सकता था।........मेरे पास करने को दूसरा काम काफी था, और सिर्फ खादी के प्रचार में ही, जो मुझे बढ़ती हुई राजनैतिक हालत में एक अपेक्षा कृत छोटा ही काम नजर आता था, लग जाने की मेरी इच्छा न थी। किसी हद तक मैं ग़ैर राजनीतिक कामों में लगे रहने से नाराज था, और मैं उन विचारों का आधार कभी नहीं समझ सका। उन दिनों वह खादी कार्य के लिये धन इकट्ठा कर रहे थे और कहा करते थे कि उन्हें दरिद्रनारायण अर्थात् 'गरीबों के नारायण' या 'गरीबों में रहने वाले नारायण' के लिये धन चाहिये। उनका यही मतलब था कि उससे वह गरीबों की मदद करेंगे, उन्हें घरेलू उद्योग-धन्धों द्वारा काम दिलायेंगे। मगर इससे अप्रत्यक्ष रूप से दरिद्रता-गरीबी का गौरव बढ़ता दिखाई देता था......। मै इस बात को पसन्द नहीं कर सकता था, क्योंकि मुझे तो दरिद्रता एक घृणित चीज मालूम होती थी, जिससे लड़ कर उसे उखाड़ फेंकना चाहिये। न उसे किसी तरह का बढ़ावा देना चाहिये। इसके लिये लाजिमी तौर पर उस प्रणाली पर हमला करना चाहिये जो दरिद्रता को बर्दाश्त करती और पैदा करती है, और जो लोग ऐसा करने से झिझकते हैं उन्हें मजबूरन दरिद्रता को किसी न किसी तरह उचित ठहराना ही पड़ता था।........जब कभी मुझे इस बारे में गांधीजी से बहस करने

का मौका मिला, तभी वह इस बात पर जोर देते थे कि अमीर लोगों को अपनी दौलत जनता की धरोहर की तरह समझना चाहिये। यह दृष्टिकोण काफी पुराना है और यह हिन्दुस्तान में, और मध्य कालीन यूरोप मे भी अक्सर पाया जाता है। किन्तु मैं तो बिलकुल इस बात को नहीं समझ सका हूं कि कोई भी शख्स ऐसा होजाने की कैसे उम्मीद कर सकता है, या यह कैसे कल्पना कर लेता है, कि इसीसे समाज की समस्या हल हो जायगी।" वस्तुत गांधीजी समाज की समस्या हल करने के स्थान पर उसको सत्य की प्रयोग-शाला बनाने को अधिक उत्सुक हैं। फिर किसी समाजवादी को गांधीजी से शिकायत करने का क्या मौका है ?

सत्याग्रही वायुमण्डल

खैर ! जो भी हो, सत्याग्रही वायुमण्डल बनाने में इन हलचलों ने बड़ी मदद की। नेहरू-रिपोर्ट भी देश के सामने आई और उसने बड़े मज़े में डेढ़ वर्ष का समय काट दिया। स्वराज्य पार्टी का मोर्चा एसेम्बली और कौंसिलों मे जमा ही था। यकायक, इसी दौरान में एक ऐसी घटना हुई जिससे प्रत्येक भारतीय-मस्तिष्क के स्नायु झनझना उठे। सरदार भगतसिंह और श्री बटुकेश्वरदत्त ने, ऐसेम्बली भवन के फर्श पर, दर्शकों की गेलरी से बम्ब फैंक कर धड़ाका

किया। देश में इस बमबाज़ी की जो प्रतिक्रिया हुई, उसने सिद्ध कर दिया कि साइमन कमीशन के बहिष्कार तथा दरिद्रनारायण के दौरे ने जो जागृति पैदा नहीं कर पायी थी, वह इन दोनों नवजवानों ने दिल्ली को छाती पर बम पटक कर एक दिन में कर दी। बम फेंके भी इस मन्शा से गये थे, किसी को चोट पहुँचाने का इरादा न था। अभियुक्तों ने अपने ब्यान में उस कार्यवाही का मन्शा शोर और खलबली पैदा करना बताया था।

कोरा जवाब और पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव

इस प्रकार मुल्क में धीरे-धीरे ऐसी फिजां बन चुकी थी, जो सत्याग्रह-आन्दोलन के लिये ज़रूरी है। फिर भी उस पर एक पुट चढ़ाने के लिये आपने घोषित किया कि 'मैं तो सहयोग देने को मर रहा हूं...... ...।' लेकिन वायसराय साहब, अपनी ३१ अक्टूबर १९२९ की घोषणा पर ही जमे रहे कि भारत को अन्त में उपनिवेश का दर्जा मिलेगा, और उन्होंने २३ दिसम्बर को, जब कि वे अपने सौभाग्य से, किसी षड़यन्त्रकारी द्वारा उनकी ट्रेन के नीचे बम चलाने के पश्चात् भी बाल-बाल बच चुके थे, गांधीजी व अन्य कांग्रेस नेताओं से यह साफ कह दिया कि "इससे आगे मैं कोई वचन नहीं दे सकता। मेरी ऐसी स्थिति नहीं है कि औपनिवेशिक स्वराज्य देने का वादा करके गोलमेज़

परिषद् में आप लोगों को बुला सकूं।" हिन्दुस्तानी दिल पर इसका प्रभाव पड़ा। ओफ़, ऐसा रूखा जवाब! इधर गत-वर्ष होने वाले कलकत्ता अधिवेशन की राष्ट्रीय मांग स्वीकार करने के लिये बारह मास की अवधि समाप्त हो रही थी, सरकारकी ओर से कोरा जवाब भी मिलचुका था-अत लाहौर अधिवेशन में, पं० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में, यह कह कर कि 'मीठी मोठी बातों से कोई अन्तर नहीं पड़ता' पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव ३१ दिसम्बर को ठीक १२ बजे रात के बाद पास कर दिया गया। प्रस्ताव इस प्रकार था —

"औपनिवेशिक-स्वराज्य के सम्बन्ध में ३१ अक्तूबर को वाइसराय साहब ने जो घोषणा की थी और जिसपर कांग्रेस एवं अन्य दलों के नेताओं ने सम्मिलित वक्तव्य प्रकाशित किया था, उस सम्बन्ध में की गई कार्य-समिति की कार्रवाई का यह कांग्रेस समर्थन करती है और स्वराज्य के राष्ट्रीय आन्दोलन से समझौता करने के लिये वाइसराय साहब की कोशिशों की कद्र करती है। किन्तु उसके बाद जो घटनाएं हुई हैं और वाइसराय साहब के साथ महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू और दूसरे नेताओं की मुलाकात का जो नतीजा निकला है उस पर विचार करने पर कॉंग्रेस की यह राय है कि सम्प्रति प्रस्तावित गोलमेज परिषद् में कांग्रेस के शामिल होने से कोई लाभ नहीं। इसलिये गतवर्ष कलकत्ते

के अधिवेशन में किये हुये अपने निश्चय के अनुसार यह कांग्रेस घोषणा करती है कि कांग्रेस-विधान की पहली कलम में 'स्वराज्य' शब्द का अर्थ पूर्ण-स्वाधीनता होगा। कांग्रेस यह भी घोषणा करती है कि नेहरू-कमेटी की रिपोर्ट में वर्णित सारी योजना खत्म समझी जाय। कांग्रेस आशा करती है कि अब समस्त कांग्रेस-वादी अपना सारा ध्यान भारतवर्ष की पूर्ण-स्वाधीनता को प्राप्त करने पर ही लगायेंगे। चूंकि स्वाधीनता का आन्दोलन सङ्गठित करना और कांग्रेस की नीति को उसके नये ध्येय के अधिक-से-अधिक अनुकूल बनाना आवश्यक है, इस लिये भी कांग्रेस निश्चय करती है, कि कांग्रेसवादी और राष्ट्रीय-आन्दोलन में भाग लेने वाले दूसरे लोग भावी निर्वाचनों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई भाग न लें और कौंसिलों और कमेटियोंके मौजूदा कांग्रेसी मेम्बरों को इस्तीफा देने की आज्ञा देती है। यह कांग्रेस अपने रचनात्मक-कार्य-क्रम को उत्साह-पूर्वक पूरा करने के लिये राष्ट्रसे अनुरोध करती है और महा-समिति को अधिकार देती है कि वह जब और जहां चाहे, आवश्यक प्रतिबन्धों के साथ, सविनय-अवज्ञा और कर-बन्दी तक का कार्य-क्रम आरम्भ करदे।"

इस प्रकार, आजादी के लिये उतावले-मजनुओं की तबियत भरने के लिये मुकम्मिल आजादी का ध्येय कर दिया गया। पं० जवाहरलाल नेहरू और बाबू सुभाषचन्द्र बोस जैसे गर्म

ख्याल के ही ज्यादातर पूर्ण-स्वाधीनता के नारे बुलन्द करते थे। सो गांधीजीने उनमें से एक को सभापति बनाकर तथा उसके ही हाथों पूर्ण-स्वाधीनता की घोषणा करवा दी। बड़ी खुशियां मनाई गईं। खुशी मनाने का मौका ही था, आज़ादी, वह भी मुकम्मिल, कैसा प्यारा और आकर्षक लफ्ज है! लोग नाच तक उठे, जब खुशी भीतर न समा सकी तो बाहर फूट पड़ी। रावी का तट स्वतन्त्रता की भावनाओं स हिलोरें ले रहा था। सम्पूर्ण देश में आजादी का वायु-मण्डल छा गया था। परन्तु, यह अनुभव उस जोश भरी फिजां में किसी ने न किया होगा कि यह वह आजादी है जिस पर गांधी-बाबा की मुहर लगी हुई है तथा अभी वह कागज के ऊपर हरूफों की शकल में है, और इस लिये उसे लिखा गया है ताकि—"तुम बिगड़ने वाले शैतान लड़के हो और चूंकि तुम्हारे ज्यादा बिगड़ने पर रूठ कर घर से निकल जाने का डर है इसलिये-लो यह खिलौना, खेलो खाओ और मौज करो।" यदि ऐसा नहीं था तो १६२१ में भी मौलाना हसरत मोहानी ने स्वराज्य की व्याख्या—"पूर्ण-स्वतन्त्रता, विदेशियों के नियन्त्रण से बिल्कुल आजादी" कह कर की थी, और चूंकि उस वक्त नटखट लड़कों की तादाद ज्यादा न थी इसलिये गांधीजी ने बड़े मजे में यह कहकर उसकी मुखालफत की थी कि "सबसे पहिले हम यह देखलें कि हम कितने गहरे पानी में हैं। हमें ऐसे समुद्र में न कूद पड़ना चाहिये

जिसकी गहराई का हमें पता न हो। और हसरत मोहानी साहब का यह प्रस्ताव हमको अथाह समुद्रमें ले जारहा है।" कैसा तर्क था वह ? सिर्फ आजादी का ध्येय भारतवर्ष को अथाह समुद्र में डुवा देता, और अब चूंकि उस गहरे समुद्र को फले-फूले गांधीवाद के पत्थरों ने पाट दिया था—क्योंकि हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ कर अपना खून बहा चुके थे, कौंसिलों व एसेम्बली में असहयोग की भावना के विरुद्ध मोर्चा लगाया जा चुका था, सरदार भगतसिंह का अहिंसक बम फूट चुका था, इस लिये वह समुद्र उथला क्या, इस काविल हो गया था कि उसकी छाती पर गांधीवाद का छकड़ा बड़े मजे में चल सकता था ?

इस प्रस्ताव के बाद ही श्री सुभाषचन्द्र बोस को 'बहुमत के अत्याचार का शिकार' बनाया गया।

कदम बढ़ा

खैर, इन बातों को छोड़ कर हम आगे बढ़ते हैं। एसेम्बली से इस्तैफे दिलाये गये। २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस मनाया गया। उधर वाइसराय के भाषण ने वातावरण को गर्म बनाने में और भी मदद की। गांधीजी ने भी उसका जवाब यह कह कर दिया कि— "वाइसराय साहब को क्या परवाह कि जब तक भारत का प्रत्येक करोड़पति ७ पैसे रोज की मजदूरी पाने वाला भिखारी न बन जाय,

तव तक औपनिवेशिक-स्वराज्य के मिलने की प्रतीक्षा ही करनी पड़ेगी।" लेकिन हां! आपने यह और कहा था; 'यदि कांग्रेस का वस चले तो आज वह प्रत्येक भूखे किसान को पेट भर खाना ही नहीं दे वल्कि, करोड़पति की हालत तक पहुँचा दे।" अव पाठक विचार करें कि आगे चल कर गांधीजी ने सत्याग्रह प्रारम्भ करने के पहिले जो अपनी प्रसिद्ध ११ शर्तें भेजी थीं उनमें क्या यह गुञ्जायश थी कि किसान करोड़पति होजाय? अलवत्ता करोड़पति ७ पैसे की की मजदूरी वाला भिखारी हरगिज नहीं वन सकता था। वनना भी नहीं चाहिये। वे शर्तें यह थीं—

(१) सम्पूर्ण मदिरा-निषेध।

(२) विनिमय की दर घटाकर एक शिलिङ्ग चार पेंस रख दी जाय।

(३) जमीन का लगान आधा कर दिया जाय और उस पर कौंसिलों का नियन्त्रण रहे।

(४) नमक-कर उठा दिया जाय।

(५) सैनिक-व्यय में आरम्भ मे ही कमसे कम ५० फी सदी कमी कर दी जाय।

(६) लगान की कमी को देखते हुये वड़ी-वड़ी नौकरियों के वेतन कम से कम आधे कर दिये जाँय।

(७) विदेशी कपड़े की आयात पर निषेध-कर लगा दिया जाय।

(८) भारतीय समुद्र-तट केवल भारतीय-जहाजोंके लिये सुरक्षित रखने का प्रस्तावित कानून पास कर दिया जाय।

(९) हत्या या हत्या के प्रयत्न में साधारण ट्रिब्यूनलों द्वारा सजा पाये हुओं के सिवा, समस्त राजनैतिक कैदी छोड़ दिये जांय, सारे राजनैतिक मुकद्दमे वापिस ले लिये जांय, १२४ अ धारा और १८१८ का तीसरा रेग्यूलेशन उठा दिये जांय और सारे निर्वासित भारतीयों को देश में वापस आजाने दिया जाय।

(१०) खुफिया-पुलिस उठा दी जाय अथवा उस पर जनता का नियंत्रण कर दिया जाय।

(११) आत्म-रक्षार्थ हथियार रखने के परवाने दिये जांय, और उन पर जनता का नियंत्रण रहे।

कहा जा सकता है कि लगान आधा करने की शर्त से किसानों को राहत मिलती? परन्तु अनुभव यह बतलाता है कि जिस तरीके का आर्थिक-सङ्गठन चल रहा है उससें उसमें लगान की कमी, किसान को करोड़पति तो क्या, भर-पेट रोटी भी नहीं दिला सकती। शोषण के दरवाजे खुले हुये हैं, और सारी लगान-कमी उसीके रास्ते से वही हुई चली जायगी। जो भी हो, परन्तु इन शर्तों का प्रभाव देश पर इस भांति का पड़ा जिससे गांधीजी के प्रयोग के लिये मैदान बिलकुल साफ हो गया। किसान ने समझा कि वह करोड़पति हो गया और करोड़पति ने सोचा कि

गांधीजी के राज्य में उस की पूर्ण सुरक्षा है। यही वास्तविकता है भी।

गांधी की आंधी

अब आप अपनी आंखों के सामने जरा उस चित्र को रखें, जब गांधीजी ने नमक-कानून तोड़ने के लिये अपने ७९ आश्रम-वासियों के साथ १२ मार्च सन् १९३० को साबरमती से कूंच किया। उनकी धीरे-धीरे होने वाली पैदल-यात्रा ने देश को सत्याग्रह की भावना से भर दिया। ५ अप्रैल को गान्धीजी दाण्डी (नमक-क्षेत्र) पहुंचे और समुद्र के किनारे से नमक बीना, नमक-कानून तोड़ा, सारे देश में "नमक-कानून तोड़ डाला" के उच्च जय-घोष गूंजे, गांधीजी का उत्साह बढ़ना, वाइसराय को धरसाना पहुँच कर नमक के कारखाने पर अधिकार करने की सूचना देना, गांधीजी का ५ मई को गिरफ्तार होना, सम्पूर्ण भारत में नमक-कानून का तोड़ा जाना, जुलूस निकलना, हड़तालें होना, जेलें भरना, पुलिस की लाठियों से सत्याग्रहियों का घायल होना। गिरफ्तार होने से थोड़ी देर पहिले ही, गांधीजी ने देश के लिये अपना निम्न संदेश दिया —

"यदि इस शुभारम्भ को अन्त तक निभा लिया तो पूर्ण-स्वराज्य मिले बिना नहीं रह सकता। फिर भारतवर्ष समस्त संसार के सन्मुख जो उदाहरण उपस्थित करेगा वह उसके योग्य ही होगा। त्याग के बिना मिला हुआ स्वराज्य टिक

नही सकता। अत सम्भव है जनता को असीम बलिदान करना पड़े। सच्चे बलिदान में एक ही पक्ष को कष्ट झेलने पड़ते हैं, अर्थात् बिना मारे मरना पड़ता है। परमात्मा करे भारत इस आदर्श को पूरा कर दिखावे। सम्प्रति भारत का स्वाभिमान और सर्वस्व एक मुट्ठी नमक में निहित है। मुट्ठी टूट भले ही जाय, पर खुलना हरगिज न चाहिये।"

"मेरी गिरफ्तारी के बाद जनता या मेरे साथियों को घबराना न चाहिये। इस आन्दोलन का सञ्चालक मै नही हूं, परमात्मा है। वह सब के हृदय में निवास करता है। हममें श्रद्धा होगी तो वह अवश्य रास्ता दिखावेगा। हमारा मार्ग निश्चित है। गांव-गांव को नमक बीनने या बनाने को निकल पडना चाहिये। स्त्रियों को शराव, अफीम और विदेशी-कपड़े की दूकानों पर धरना देना चाहिये। घर-घर में आबाल-वृद्ध सब को तकली पर कातना शुरू कर देना चाहिये और रोज सूत के ढेर लग जाने चाहियें। विदेशी-वस्त्रों की होलियां की जांय। हिन्दू किसीको अछूत न मानें। हिन्दू, मुसलमान पारसी, ईसाई सब हृदय से गले मिलें। बड़ी जातियां छोटी जातियों को देने के बाद बचे हुये भाग से सन्तोष करें। विद्यार्थी सरकारी मदरसे छोड़ दें और सरकारी नौकर उन पटेलों और तलाटियों की भांति नौकरियां छोड़ कर जनता की सेवा में जुट जांय। इस प्रकार आसानी से हमें पूर्ण-स्वराज्य मिल जायगा।"

इन्ही हिदायतों के मुताबिक डट के आन्दोलन चला। सरकार परेशान हो रही थी—ठीक उसी तरह जब आंधी आती है और यह जानने पर भी कि यह दो-चार मिनट की है, चित्त कुछ उलझन में पड़ जाता है। देश मे भी गांधी की आंधी चल रही थी फिर सरकार का परेशान होना ठीक ही था। नमक–कानून टूटते–टूटते लगानबन्दी तक पहुँच गया। सरकार ने भी सत्याग्रह का रङ्ग फीका करने के लिये कड़े उपायों का सहारा लिया। युक्तप्रान्त के बिगड़े हुये जिलों में फौजें घुमाई गई। जेलों में हद दर्जे की सख्तियाँ की गई।

चूंकि कृष्ण–मन्दिर के पुजारियों से जेलें भरी जा चुकीं थीं, इसलिये तार की वाढ़ लगाकर कैम्प-जेलों का निर्माण हुआ। लखनऊ में भी ऐसी ही एक कैम्प-जेल थी, जिसमें करीब ६ दिन लग–भग २००० सत्याग्रही कैदियों को रोटी के दर्शन नही हुये थे। बात बात पर बेत लगाना, जेल अधिकारियों का मनोरञ्जन हो गया था।

गढ़वाली पल्टन

लेकिन बाहर हो-हल्ला बड़े जोरों का हो रहा था। आन्दोलन के तह में जाने की सूझ उस होहल्ला से विस्मित हो रही थी। ऐसा लगा कि स्वराज्य आने वाला है। फिर भला हिन्दुस्तानी पल्टने अपना मन क्यों न

चलाती ? उनमें भी हुक्म-उदूली शुरू हो चुकी थी। गढ़वालियों की पल्टन ने सीमा-प्रान्त में खाली हाथ जनता पर गोली चलाने से इनकार कर दिया; और जो नतीजा उन बहादुरों को उठाना पड़ा, उसकी याद चन्द्र-सिंह की रिहाई के लिये प्रस्ताव पास करके हम आज भी कर लिया करते हैं। वे पल्टनें ऐसा करते वक्त कतई भूल गईं थी कि यह ५७ का ग़दर नहीं है, इसे सत्याग्रह कहते हैं, और सत्याग्रह में उनके इस आदर्श-त्याग के लिये सिर्फ जी भारी करके निराश आँखों से उनके प्रति केवल सहानुभूति प्रगट की जा सकती है।

सत्याग्रहका पेट भर चला

चूंकि ६० हजार से अधिक सत्याग्रही-सिपाही जेल जा चुके थे, मई के अन्तिम सप्ताह तक सवा सौ के क़रीब गोलियों से भूने जा चुके थे, और ४०० से भी ज्यादा मज-रूह होकर हमेशा के लिये अनाथालय में भर्ती करने के क़ाबिल बन गये थे, पुलिस के डण्डे हज़ारों खोपड़ियों से बहे हुये खून को पी चुके थे, इसलिये सत्याग्रह-शास्त्र के अनुसार किसी समझौते पर पहुंचना लाजिमी था। बीच में भी एकबार ऐसी कोशिश की गई थी, पर चूंकि उस समय जागृति काफी नहीं हो पाई थी, और सरकार भी आन्दोलन को सीमा तक देखकर 'सत्याग्रह-भञ्जन नुस्खा'

का आविष्कार कर सकी थी, इस लिये समझौते में कामयाबी नहीं मिली। सन् ३० के खतम होते-होते यह खामियां पूर्ण हो चुकीं थीं। अत कुछ भक्त लोगों के बीच में पड़ने से ३१ के प्रारम्भ में ही समझौते का कार्य-सम्पन्न होगया।

समझौता

सबसे पहिले २६ जनवरी को कार्य-समिति के सदस्य छोड़े गये। सरकारी विज्ञप्ति में छोड़ने का मन्शा इन लोगों को आपस में बात-चीत करने की पूरी-पूरी छूट देने का मौका देना था। गांधीजी ने छूटने के पश्चात् घोषणा कि "पिकेटिंग का अधिकार नहीं छोड़ सकता, न लाखों भूखों मरते लोगों द्वारा नमक बनाने के अधिकार को ही हम छोड़ सकते हैं।" एक ओर गांधीजी ने इतने बड़े जबरदस्त अधिकार का दावा किया, और दूसरी ओर १४ फर्वरी को वायसराय से बहैसियत एक मनुष्य के बात-चीत करने की मंशा जाहिर की। वायसराय को स्वीकार करने में देर क्यों लगनी चाहिये थी; और १६ फरवरी को गांधीजी नई दिल्ली की महायात्रा को चल पड़े। उन्हें सफेद-स्याह करने का अधिकार कार्य-समिति दे ही चुकी थी, और यों भी सत्याग्रह का पेटा भर चुका था। अत. कुछ थोड़ी-बहुत रूठा-मनठी के बाद ५ मार्च को समझौता होगया।

समझौते पर अमल

समझौते के बाद फौरन ही अमल होना प्रारम्भ हो गया। कैदी जै के नारों का अर्राटा लगाते हुये जेलों से निकलने लगे। हम लोग भी लखनऊ कैम्प जेल से भूख के मारे पेट पीठ से चिपकाये निकले। जीते सिपाहियों जैसा स्वागत हुआ, कचौड़ियों और लड्डुओं से पेट ठूंस-ठूंस कर भरा, और बेचारे वे गढ़वाली पल्टन के सिपाही, जिन्होंने हिंसा करने से इन्कार किया था, उसी जेल के नर्क में पड़े रहे। परन्तु ऐसी शिकायत को इस समझौते मे गुंजाइश नही होना चाहिये, क्यों कि समझौता सत्याग्रह से हुआ था! यदि ऐसा नही था तो क्या भगतसिंह को फांसी की सजा से नही बचाया जा सकता था? कौन नही जानता, उन दिनों भगतसिंह की ख्याति और उनके प्रति श्रद्धा के भाव, देश भाइयों के हृदय में गांधीजी से किसी कदर भी कम न थे। असलियत तो यह है कि इस सत्याग्रही समझौते पर भगतसिंह की लाश के ऊपर बैठ कर करांची कांग्रेस में मुहर लगाई थी गई, और यही वजह उसके अन्त की हुई। निश्चय ही आन्दोलन में गांधीजी की विजय सी लगी, और शायद सत्याग्रह-आन्दोलन के सूत्रधार के रूप में हमेशा के लिये पराजय भी,-क्योंकि ब्रिटिश-सरकार यदि कभी गिरती भी है, तो गों से। मेढ़ा युद्ध में

यदि पीछे हटे तो समझना चाहिये कि दुश्मन पर जोरों से वार करने वाला है।

लार्ड विलिंगडन का आगमन

इस समझौते के बाद ही लार्ड इर्विन हिन्दुस्तान से चले गये और लार्ड विलिंगडन उनके स्थान पर वायसराय हो कर आये। लार्ड विलिंगडन आये क्या, बाद में उन्होंने साबित कर दिया, कि सत्याग्रह के रोग के वे विशेषज्ञ हैं। लार्ड इर्विन के जमाने में सत्याग्रह का विकास और प्रभाव देख लिया गया था, उसकी घाटियों से अंग्रेज परिचित हो चुका था, सो उस आंधी को जैसे-तैसे रोक कर वे लार्ड विलिंगडन को अपनी यह वसीअत सौंप गये कि आंधी की वह शकल हमेशा के लिये खत्म कर दीजाय। समझौते के दर्मयान में ऐसा लगा कि अब समझौता टूटा, और गांधी जी का राउन्डटेबिल कांन्फ्रेंस में शामिल होना असम्भव है। परन्तु इतने से सन्तोष कैसे होता? गांधीजी को उस गोल मेज के आसपास सरकार को घुमाना इच्छित था, जिसकी न कहीं शुरूआत थी और न कहीं आखीर। शिमला से उन्हें किसी तरह स्पेशल-ट्रेन वगैरह का इन्तजाम करके लन्दन रवाना कर दिया गया। ३५ करोड़ देश-वासियों की प्रतिनिधि संख्या कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी उस गोलमेज पर चक्कर लगाने लगे, और इधर विलिंगडन साहब ने समझौते की कपाल क्रिया शुरू करदी।

गोलमेज़ का चक्कर

लन्दन की उस कांफ्रेंस का जो अन्त हुआ, उसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि उसमें साजिशों का कभी खत्म न होने वाला चक्र चला, अंग्रेज ने जिस मुद्दआ के लिये उसे तैयार किया था उसमें वह कामयाब रहा, सारे संसार के सामने हमारा काला पहलू हिन्दू-मुस्लिम-अछूत की शकल में विभाजित करके पेश किया, बदनाम किया, ओर गांधीजी को भूल भुलैओं में डाल कर, उन्हें कुछ दिनों के लिये इंगलैण्ड का सम्मानित महमान बनाकर ठग लिया। वास्तव में अंग्रेज जहां डण्डे का जोर रखता है वहां उसे अपनी कूटनीति पर भी भरोसा रहता है। गांधीजी के साथ जबर्दस्त कूटनीति बर्ती गई। साम्प्रदायिक प्रश्नों को पहाड़ बनाकर, गांधीजी को उसी में उलझा दिया गया। वे कभी-कभी सचेत भी हुये, उन्होंने क्रान्तिकारियों के रक्त से लिखे जाने वाले सकेत की याद भी दिलाई, परन्तु अंग्रेज को यह भी घमण्ड है कि उसकी मशीनगने ऐसे सौ सकेतों को मिटा सकती हैं, और रहा सत्याग्रह-आन्दोलन, सो उसके बारे मे तो उसका इतना जबर्दस्त विश्वास हो गया कि यह बीमारी हिन्दुस्तान में कभी भी नही फैल पायेगी।

फिर सत्याग्रह

१ दिसम्बर १९३१ को गोलमेज के नाटक की समाप्ति

हुई, तो गांधीजी ने किसी सिलसिले में कहा, कि अब हमें अलग—अलग रास्तों पर जाना है। अंग्रेज गांधीजी के कहने के पेश्तर ही यह फैसला कर चुका था, और हिन्दुस्तान में उसका अमल भी प्रारम्भ हो गया था। युक्त प्रान्त, सीमा प्रान्त और बंगाल में भीषण दमन का दौर गांधीजी के हिन्दुस्तान आने के पहिले ही चलने लगा था। जब वे २८ दिसम्बर को बम्बई बन्दरगाह पर उतरे तो उस वक्त हिन्दुस्तान की नौकरशाही सत्याग्रही हिन्दुस्तान की नब्ज पकड़े हुये उसे दमन के जहर का प्याला पिला रही थी। गांधीजी ने अपनी नीति के अनुसार वायसराय से मिल कर मामले को सुलझाने की कोशिश की। परन्तु वे नाकामयाब रहे, और जब उन्होंने वायसराय साहब को पुन सत्याग्रह छेड देने की सूचना दी तो वायसराय की ओर से स्पष्ट उत्तर दिया गया, कि कांग्रेस ने जिन उपायों के अवलम्बन का इरादा जाहिर किया है उसके सब परिणामों के लिये हम आपको और कांग्रेस को उत्तरदायी समझेंगे और उसके दबाने के लिये सरकार सब आवश्यक अस्त्रों का अवलम्बन करेगी।

सत्याग्रह ढीला हुआ

ऐसा हुआ भी, और गांधीजी की आंधी चलने के पहिले ही सरकार ने तूफान उठा दिया। उस समय एक प्रकार का

डण्डा-राज चलरहा था। आर्डीनेन्स इतने भयङ्कर कि भारतवर्ष को सांस लेना मुश्किल हो गया। गांधीजी की आज्ञा से गोलियां भी वर्दाश्त की, जेल भी गये। सभी बड़े बड़े नेता प्रारम्भ में ही जेल भेज दिये गये थे, और जिन पर आन्दोलन चलाने की जिम्मेदारी आ पड़ी उन्होंने अपनी भरसक कोशिश आन्दोलन को जिंदा रखने की की। पर इतने अधिक दमन में सत्याग्रह अधिक नहीं चल सकता था—यह ध्रुव सत्य बात है। न जलूस निकाला जा सकता था, न सभाएं हो सकती थीं, न जनता सत्याग्रहियों का स्वागत कर पाती थी, न प्रचार कार्य चल सकता था। सत्याग्रह युद्ध के तो यही आधार स्तम्भ हैं, यों कहने को जो चाहे कह लीजिये। फिर भी देश से जो हो सका, उसने किया। लेकिन आन्दोलन की गर्मी बहुत शीघ्र ही ठण्डी पड़ने लगी थी। देश पर निराशा के बादल छा गये।

अनशन-अध्याय

जहां तक आन्दोलन को उत्पन्न करने और उसे चलाने का सम्बन्ध है, गांधीजी की टक्कर लेने वाला हमारे देश में दूसरा नहीं है। जनता के दिलों को अपने इशारों से उठाने-बिठाने का गुण उन्हीं में है। परन्तु क्या किया जाय, सत्याग्रह और उसके राजनीतिक प्रयोग के लिये—उसमें खामियां हैं, वह आगे ज्यादा दूर तक नहीं चल सकता।

हरएक चीज़ अपनी सीमा के भीतर रहती है । खूंखार लड़ाइयों की भी एक सीमा होती है । प्रकृति के इस अटल विधान के अनुसार सत्याग्रह अपनी हद पर पहुँच चुका था, और आगे उस शकल में उसका चलना असम्भव ही था। दो-तीन महीने के बाद ही सन् ३२ के आन्दोलन का सम्बन्ध जनता से टूट गया था। उस समय उसकी स्थिति जन-आन्दोलन की न होकर कांग्रेस-आन्दोलन की हो गई थी। कार्य-कर्त्ताओं की संख्या तो सीमित हुआ करती है, और उसी हिसाब से वे अपना आन्दोलन चला सकते हैं। गांधी जी इस वस्तुस्थिति से परिचित न थे-ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इन मामलों में, सत्याग्रह के चढ़ाव उतार देखने में उनसे भूल अक्सर नहीं हुआ करती है । वे किसी भी हालत में क्यों न हों, जनता से अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हैं । परन्तु वे जेल में थे । जेल से सत्याग्रह का संचालन तो हो नहीं सकता था। तो क्या हो ? कोई असम्भव बात नहीं है जो उन दिनों गांधीजी के सामने 'तो क्या हो' प्रश्न अपनी बडी शकल में खड़ा हो।

गोलमेज कांफ्रेन्स में गांधीजी साफ कह चुके थे कि "............हम नहीं चाहते कि अस्पृश्यों का एक पृथक जाति के रूप में वर्गीकरण किया जाय .... अपने प्राणों की बाजी लगा कर भी, मैं इसका विरोध करूंगा।" लेकिन १७ अगस्त को मि० मैकडानल्ड तत्कालीन बृटिश प्रधान

मन्त्री ने 'साम्प्रदायक निर्णय' के नाम से अस्पृश्यों को हिन्दुओं से जुदा करने का फैसला दे दिया। गांधीजी ने इसी को लेकर २० सितम्बर १९३२ से इस निर्णय के विरोध में आमरण उपवास की घोषणा कर दी। इस घोषणा की प्रतिक्रिया देश में बड़ी अजीबोगरीब हुई।

सत्याग्रह की ठण्डक से जो मुल्क ठण्डा रहा था, उसमें एक बार भावनाओं की गर्मी फिर से पैदा हो गई। देश किसी भी मूल्य पर गांधीजी के प्राणों में का ग्राहक नहीं था। नेताओं ने मिल-बैठ कर पूना-पैक्ट के नाम से तुरन्त अस्पृश्यों से एक समझौता किया, और प्रधान-मन्त्री ने भी उसे स्वीकार कर लिया। इस तरह गांधीजी का आमरण उपवास २६ दिसम्बर को समाप्त हुआ।

आन्दोलन की कमर टूटी

देखने में गांधीजी को अपने चमत्कार में सफलता मिली; पर इसका परिणाम निश्चय ही राजनीतिक पैमाने पर चलने वाले सत्याग्रह में रोड़ा बन गया। उस तरफ से देश की और कांग्रेस-जनों की निगाहें हट गईं और उन्होंने अपना ध्यान 'हरिजन-सेवक' बनने की ओर लगा दिया। कार्य-कर्त्ताओं में सत्याग्रह के लिये रहा-सहा जोश भी गायब होने लगा। कुछ विलिङ्गडन के डण्डे ने और कुछ गांधीजी के इस अनशन ने मिल कर आन्दोलन की कमर

तोड़ दी। पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस अनशन के बारे में अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे वास्तव में मननीय हैं। वे 'मेरी कहानी' में लिखते हैं—"मैंने देखा कि उपवास के बीच में देश में भावना का फिर एक उभाड़ आया। मैं ज्यादा-ज्यादा सोचने लगा कि क्या राजनीति में यह सही तरकीब है? मुझे तो लगने लगा कि यह पुनुरुद्धार-वाद है और इस के सामने स्पष्ट-विचार करने का तरीका बिलकुल नहीं ठहर सकता। सारा हिन्दुस्तान व उसका ज्यादातर हिस्सा सम्मान से महात्माजी की तरफ निगाह लगाये हुये था, और उनसे उम्मीद करता था कि वह चमत्कार पर चमत्कार करते चले जांय, अस्पृश्यता का नाश करदें और स्वराज्य हासिल करलें, इत्यादि,और खुद कुछ भी न करे। गांधीजी भी दूसरों को विचार करने के लिये प्रोत्साहित नहीं करते थे। उनका जोर पवित्रता और बलिदान पर था। मुझे लगा कि हालांकि मैं गांधीजी पर बड़ी भावुकता-पूर्ण आसक्ति रखता हूं फिर भी मानसिक-दृष्टि से मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूं। .... क्या राष्ट्र को तैयार करने का रास्ता श्रद्धा ही है? कुछ वक्त के लिये तो वह फायदेमन्द हो सकता है—मगर अन्त में क्या होगा?"

पं० जवाहरलाल नेहरू पूछते हैं कि अन्तमे क्या होगा? इसका उत्तर शायद अब वे भली-भांति पागये होंगे; और यदि नही पाया तो गांधीजी के प्रति—उनकी भावुकता-पूर्ण

आसक्ति-सीमा को पारकर गई होगी, इसमें शकको गुञ्जायश नहीं है। स्वराज्य प्राप्ति की बात को छोड़िये, अस्पृश्यता का निवारण ही कितना हुआ है? जिन्हें पहिले अछूत कहा जाता था वे अब हरजिन कहलाने लगे हैं। पृथकत्व का रोग हरिजनों को अभी तक लगा है। प्रान्तीय-सरकारों मे मन्त्री बनने की अभिलाषा उन्हें सत्याग्रह करके प्रकट करनी पड़ती है। यदि उनकी यह मांगें स्वीकृत नहीं होती तो वे पूना-पैक्ट के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा करते हैं, सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन की धमकी देते हैं। मिस्टर जिन्ना की ओर हसरतभरी नजर से देखते हैं। यकायक सनसनी पैदा करने वाले वातावरणमें जो पैक्ट किया गया था, यदि उसके सवर्ण हिस्से से कहा जाय, कि तुम्हारे प्रयत्न से हरिजनों के लिये मन्दिर के पट खुल गये. अब क्या तुम उनके लिये अपने चौके खोल सकते हो? तो ऐसे कितने हैं, जिनका उत्तर 'हां' मे होगा? हम समझते हैं कि इसका उत्तर यह भी दिया जा सकता है कि चौके से अस्पृश्यता का कोई सम्बन्ध नहीं है। अलबत्ता हरिजन-सेवक-सङ्घ नाम की एक संस्था जरूर बन गई है, सेठ घनश्यामदास बिड़ला उसके सभापति हो गये हैं, कुछ विद्यार्थियों को वजीफे भी मिल रहे हैं; कुछ मन्दिर और कुएँ भी खुल गये हैं। लेकिन छूआछूत के कीटाणुओं ने एक अद्भुत रूप से दिमागों पर कब्जा जमा रक्खा है। इनका कब्जा तो उसी

दिन हट सकेगा, जब समाज की आर्थिक-व्यवस्था में क्रान्तिकारी हेर-फेर होगा, विज्ञान के प्रति समाज की नफ़रत चली जायगी। तभी उसकी छत्रछाया में हम मानवमात्र का चरम सीमा तक विकास देख सकेंगे।

सत्याग्रह स्थगित

वह उपवास किसी तरह समाप्त हुआ। पर अभी तो इसकी झड़ी लगने वाली थी। कभी हरिजन-सेवकों की आत्म-शुद्धि के लिये व्रत होता, कभी जेल में हरिजन-कार्य्य की सुविधा न मिलने के कारण। गांधीजी ने ८ मई सन् १९३३ को जो २१ दिन का उपवास करने का निश्चय किया था, उसके शुरू दिन ही सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। रिहा होते ही समझौते की भावना से ६ सप्ताह के लिये सत्याग्रह-आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। परन्तु सरकार, जिसके हाथ सत्याग्रह की दवा लग गई थी, यह कैसे स्वीकार करती कि सिर्फ सत्याग्रह का स्थगित किया जाना ही काफी है। वह तो उसे हमेशा के लिये बन्द कराना चाहती थी। इस शर्त से कम में वह कांग्रेस से सौदा करने को तैयार न थी।

ब्रिटिश सरकार का जवाब उसके अनुकूल ही था। वह हम पर रहम करने के लिये तो शासन कर नहीं रही है। उसका तो सीधा-सीधा मन्शा, जैसे हो, हमेशा के लिये

उलट-फेर के तरीके से गुलाम बनाये रखना है। हमने जो लड़ाइयाँ लड़ीं, उसका भेद जान लेने पर तो उसका यह ख्याल और भी मजबूत होता गया होगा।

सत्याग्रहका अन्त

सत्याग्रह आन्दोलन इस समय सिसक-सिसक कर जी रहा था। अब उसका सामूहिक रूप भी समाप्त कर दिया गया था, और जो लोग तैयार थे, उन्हें व्यक्ति-गत सत्याग्रह करने का आदेश दिया गया। गांधीजी ने भी ऐसा ही किया, और वे जेल भेज दिये गये। जेल में उन्होंने फिर अनशन किया, और वे २३ अगस्त को छोड़ दिये गये। छोड़े जाने पर कुछ दिनों हरिजन-सेवा का कार्य्य जारी रहा। बिहार के भूकम्प-पीड़ितों के कष्ट निवारण के लिये एक माह का समय दिया। पाठक यह न भूलें कि इस समय व्यक्तिगत सत्याग्रह अपने टूटे-फूटे रूप में घसिट रहा था।

गांधीजी इस परिस्थिति का खूब निरीक्षण कर रहे थे। इसी समय ३१ मार्च १९३४ को डाक्टर अन्सारी की अध्यक्षता में कौंसिल-पसन्द कांग्रेसियों की एक परिषद् हुई, और निश्चय हुआ कि मरी हुई स्वराज्य-पार्टी को फिर जिन्दा किया जाय। गांधीजी ने भी ५ अप्रैल को अपने विचारों के अनुसार पार्टी की शक्ति भर सहायता करने का वायदा किया। इसके पहिले २ अप्रैल को वे यह भी निश्चय

कर चुके थे कि व्यक्तिगत-सत्याग्रह बन्द कर दिया जाय। उस वक्तव्य को भी ७ अप्रैल को प्रकाशित कर दिया गया। वक्तव्य में अपने साथियों की कमजोरियों का जिक्र करते हुये गांधीजी ने कहा, कि फिलहाल मैं ही अकेला सक्रिय सत्याग्रही रहूँगा।

इस प्रकार सत्याग्रह आन्दोलन की समाप्ति हुई। यदि इस समाप्ति को कड़ुवे लफ्जों में याद किया जाय, तो कहा जा सकता है कि सत्याग्रह की छीछालेथन करा कर, और देश के साथ आँख मिचौनी का खेल कर-कर के गांधी जी राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण पराजित होगये।

फिर वहीं

पृथ्वी गोल है, नाक की सीध चलते चलो, तो लौट फिर कर पैरों का व्यायाम करके, उसी स्थान पर वापिस आया जा सकता है। ५ वर्ष की सत्याग्रह-यात्रा हमें फिर सरकारी किलों के भीतर लेगई, जहां हम यूनियन जैक फहराते हुये सरकारी भवनों में शपथ लिया करते हैं। हां, यात्रा का अनुभव हमारे पास अवश्य रह गया है, वरना कितनी तरक्की हमने की इसके लिये सन् १९५० के भारतवर्ष को देखना चाहिये।

कांग्रेस से अलहदगी

खैर, अक्टूबर १९३४ में बाक़ायदा बम्बई मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। पार्लमेण्टरी बोर्ड बनाया गया, नया

विधान पास हुआ, तथा एक नया गांधी-पूत, ग्राम-उद्योग संघ पैदा हुआ-जिसके पालन-पोषण का भार गांधीजी के ही सर डाला गया, और उसकी अमरता के लिये राजनीतिक कहलाई जाने वाली हलचलों से उसे बरी कर दिया गया। एक मौके की बात यह भी हुई कि गांधीजी यह कह कर कांग्रेस से अलग होगये ".........मुझे ऐसा मालुम हो रहा है कि बहुत से कांग्रेस वालों और मेरी विचार दृष्टि के बीच एक बढ़ता हुआ और गहरा अन्तर मौजूद है। मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है कि बहुत से बुद्धिशाली कांग्रेस वाले यदि मेरे प्रति अनुपम भक्ति के बन्धन में न पड़े रहें, तो प्रसन्नता के साथ उस दिशा की ओर जायेंगे, जो मेरी दिशा के बिलकुल बिपरीत है। ......मेरे लिये उनकी भक्ति तथा श्रद्धा से अब और लाभ उठाना उन पर बेजा दबाव डालना है। उनकी यह वफादारी इस बात के देखने से मेरी आंखको बन्द नही कर सकती कि कांग्रेस के बुद्धिशाली लोगों और मेरेबीच मौलिक मतभेद मौजूद है।" गांधीजी का ब्यान काफी लम्बा था, परन्तु अलहदगी के बुनियादी कारण यही थे। विधान में परिवर्तन करने के भी बहुतेरे परामर्श आपने सुझाये थे, जिनमें एक कांग्रेस के उचित और शान्तिमय शब्दों के बदले सत्यतापूर्ण और अहिंसात्मक शब्दों का रक्खा जाना, तथा दूसरा कांग्रेस की मताधिकार-योग्यता चारआने के बदले हर महीने ढाईहजार गज से भी ज्यादा कता हुआ

सूत देने की शर्त थी। लेकिन किसी प्रकार, देश का सौभाग्य था जो बम्बई कांग्रेस ने इन परामर्शों को मुसकरा कर टाल दिया, और उसे चर्खानन्दी सन्यासियों की जमात होने से बचा लिया। उस समय कांग्रेस-प्रतिनिधियों ने अपने विवेक से कैसे काम ले पाया होगा? यह एक आश्चर्य की बात है-क्योंकि गांधीजी ने कांग्रेस से हटने का अपना चमत्कार तो पेश कर ही दिया था, और उनके चमत्कार के समय आम तौर से दिमाग़ का स्थान दिल से लिया करना है।

धरोहर

गांधीजी तो कांग्रेस से हट गये, यहां तक कि चवन्नी के मैम्बर तक न रहे, पर अपने पीछे अपनी धरोहर अवश्य छोड़ गये-जिसमें इतनी भी सौजन्यता नहीं है जो वह विचार स्वातंत्र को उद्दण्डता के नाम से न पुकारे। सरदार वल्लभ-भाई पटेल,-जिनके स्नेह को देखकर गांधीजी को "अपनी प्यारी माता के स्नेह की याद आजाती है", चक्रवर्ती राजगो-पालाचार्य्य-जो गांधीजी की पुरानी और मजबूत नाव में चढ़ना इस हद तक पसन्द करते हैं कि उन्हें स्टीमर हेच लगता है, बाबू राजेन्द्रप्रसाद-जो बिहार के गांधी कहलाते हैं, तथा इन जैसे बहुतेरे आज भी कांग्रेस को गांधीजी के चरण चिह्नों पर लिये जारहे हैं। जो इन पद-चिह्नों पर न चल सके, या चलने की कोशिश करते हुये कभी-कभी अपनी

अक्ल खर्च करे, उसे कांग्रेस में रहने का हक नहीं है। वह गांधी-द्रोही है, और चूंकि गांधी-विरोधी देश का मित्र हर्गिज नहीं हो सकता, इसलिये वह देश-द्रोही भी है। यह मोटो आज हमारी आंखों के सामने रखा जाता है।

काँग्रेसका राज

यद्यपि गांधीजी कांग्रेस से हट गये थे, परन्तु उनके हटने से कांग्रेस की गांधी-भक्ति में कोई भी अन्तर नहीं आ पाया था। केन्द्रीय-एसेम्बली का चुनाव हुआ और उसमें इतनी कामयाबी मिली कि मिस्टर जिन्ना के साथ मिल कर सरकार को हार दी जा सकती थी। उसके पश्चात् आया नया शासन-विधान। उसे प्रतिगामी बताया गया, भारत की आकांक्षाओं के विपरीत; फिर भी उसीके अनुसार बनी प्रान्तीय-असेम्बलियों के चुनाव लड़े गये। उनमें आशातीत-कामयाबी मिली। इस कामयाबी को गांधीजी की जीत कहा जाता है, क्योंकि गत २० वर्ष में उन्होंने हिन्दुस्तान को जो सत्याग्रह की लड़ाई लड़ना सिखाया था, उसका निश्चित परिणाम एसेम्बलियों के वोट प्राप्त करना होना चाहिये था, ताकि देश के आला-दिमाग इन सरकारी-किलों में घुस कर शाब्दिक-क्रान्ति के गीत गा सकें। रहा सामाजिक और आर्थिक-सुधार, सो भी गांधीजी की कृपा से राजनीति से दूर हटकर हो ही रहे हैं।

चर्खा-सङ्घ किसानो की रोटी पर मक्खन चुपड़ रहा है, ग्राम उद्योग-सङ्घ शहद को मक्खियां पाल रहा है, हरि-जन-सेवक सङ्घ अछूता को हरिजन-ढांचे में ढाल रहा है, और रहा गांधी सेवा-सङ्घ, सो वह भी कांग्रेसको चर्खानन्दो-सम्प्रदाय बनाने में सफलता की ओर चल ही रहा है।

खैर, दिखलाना यह है कि गांधीजी की जै बोल कर कांग्रेस ने विधान पर ऐसा कब्जा किया कि ११ सूबों मे से ८ सूबों में कॉग्रेस की सरकारें कायम हो गईं। विधान को प्रतिगामी मानते हुये भी यह कमाल की बात थी कि गांधीजी के शिष्यों के बहुमत-द्वारा मन्त्रिमण्डल बनाना तै हुआ। सचमुच में बालूसे तेल निकालने का प्रयत्न करना बहुत ही सराहनीय है। जितनी भी सरकारें बनीं, वे सरदार बल्लभभाई की स्नेह-डोरी से बंधी हुई थीं। वे उनके नचाने वाले थे, और हर ताल पर कांग्रेस की मुहर थी, हर थाप पर गांधीजी की छाप थी। अभी तक लिखने का तात्पर्य यह था कि गांधी-युग की मुख्य-मुख्य क्रान्तियों से-यदि उसे क्रान्ति कहा जा सके—पाठक परिचित हो जांय, और अपने दिमाग मे एक चित्र बनायें, कि सत्याग्रह के सहारे कितना आगे चल पाये हैं, उन्होंने आजादी की कितनी मञ्जिल तै करली हैं, और क्या वे गांधीजी के इस रास्ते पर चल कर अब इस काबिल हो पाये हैं कि चलाचल लगाये रहने पर भी आजादी की देवी के दर्शन कर सकें?
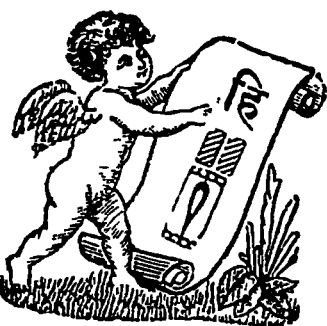
गान्धीजी का सत्याग्रह.

न्दुस्तान में एक अजीब सा ख्याल चल पडा है, कि देशकी मुक्ति के लिये भारतीयों के पास केवल सत्याग्रह अस्त्र है। कुछ दिनों से तो यह ख्याल अपनी हद पर पहुँच गया है, और रोज अखबारों के जरिये से ऐसी खबरें मिलती रहती हैं कि—"सत्याग्रह शुरू होने वाला है, सत्याग्रह के लिये तैयारियां होरही हैं, हरिजनोंका सत्याग्रह चल रहा है, सनातनी-पण्डितों ने भी सत्याग्रह की तलवार पकड़ ली, मुस्लिम-लीग ने मिस्टर जिन्ना से सत्याग्रह करने की आज्ञा मांगी है, यदि गांधीजी सत्याग्रह शुरू नहीं करते तो मौका हाथ से जा रहा है, अच्छा-हम ही यह धर्म-युद्ध आरम्भ करने हैं।" इन बातों को सुनकर ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि जैसे सचमुच ही हिन्दुस्तान में बहादुराना जजबात फूट कर बहे-बहे फिर रहे हैं, और यह मुल्क अगर मिल कर कहीं इस मौके पर यूरोप में सत्याग्रह-जङ्ग शुरू कर दे तो जरूर ही हम वहां कब्जा जमा सकते हैं। फिर अपनी गुलामी का सवाल ही कहां रह जाता है? मुमकिन है. इस ख्याल से कोई-कोई बरी हों। लेकिन इस ह

को न चलाने वालों की गिनती लिबरलों में कर दी जाती है, और चूंकि बेचारे लिबरलों की कदर अब मुल्कसे उठ सी गई है, इस लिये जाहिरा-तोर पर सत्याग्रह की जद्द में, बेइज्जती के डर से बहुत ही कम ऐसे लोग बच जाते हैं जो लिबरल न होते हुये भी शामिल न हो तथा सत्याग्रह को अब फिजूल की चीज समझे। सच तो यह है कि हमें अब सत्याग्रह में हर मर्ज का इलाज दिखाई देता है। हमें यकीन सा होगया है और हमारे दिमाग के कौने-कौने में यह लिख गया है कि बिना सत्याग्रह के काम चलने का नहीं, खास कर किसी कमजोर बिना हथियार के, कमजोर बाजू वाले का।

इसमें कोई शक नहीं कि इस तरहकी जहनियत ने हमारे अन्दर बहुत हद तक निर्भयता पैदा की है—फिर वह निर्भयता चाहे शुतुर्मुग जैसी क्यों न हो, जो दुश्मन से घेर लिये जाने पर अपना सर बालू में गढ़ा लेता है, और सोचने लगता है कि—'अब शत्रु दिखलाई नही पड़ता, मैं पूर्ण-निर्भय और त्रास-रहित हूँ।' हमारी हालत भी लगभग ऐसी ही होगई है। हम आंख बंद करके पुलिस का डंडा सह सकते हैं, हमें भेड़-बकरियो की तरह एक सरकारी मुलाजिम जेल की चहारदीवारी के अन्दर पहुचा सकता है, कभी-कभी तो हम इस बात पर तुल जाते हैं कि कोई साम्राज्य की मशीन का पुर्जा आये और हमें घसीटता हुआ लेजाय और शहीद बनादे। ऐसी कुर्बानियां ! करने समय हमें एक तरह का

आत्म-सन्तोष अनुभव होता है। हम महसूस करते हैं कि हमारा यह सत्याग्रह मुल्कको आजादी की ओर लिये जा रहा है। हम जब उसका असर देखते हैं तब तो और भी कुछ-कुछ फख्र होने लगता है। हमारी सत्याग्रही-चाल देखकर दूसरों के दिल पर असर पड़ता है, और इस असर वाले हल्के में से बहुत से भावुक लोग हमारे कुनवे में शामिल हो जाते हैं। फिर हम सोचने लगते हैं कि—"कैसा सुन्दर मार्ग है यह, जिस के मुसाफिर हम ही नहीं हैं—वलिक भारत-मां के ३५ करोड़ बेटे भी हमारे पीछे चल रहे हैं।" मुल्क पर भी इसका असर पड़ता है। जिस किसी जमात में ऐसे लाखों सत्याग्रही होंगे, क्या उनको देखकर हमारी आंखों को अच्छा नहीं लगेगा? आखिर को हम आदमी ही हैं, हमारे अन्दर दिल है, दिल में भावनाएं हैं, तो हम क्यों कर इन सत्याग्रहियों की जङ्ग से प्रभावित नहीं हो सकते? फिर वे बेचारे कुछ अपने लिये तो सत्याग्रही नहीं बने, वे तो मुल्क की खातिर, कौम की बहबूदी के लिये मजनूं बने फिर रहे हैं। उनसे किसी को तकलीफ नहीं पहुँचती, क्योंकि वे अहिंसा में यकीन करते हैं। उनके यहां दगा-फरेब को गुञ्जाइश नहीं, क्योंकि वे सत्य का आग्रह करते हैं। वे सब एक ऐसी पल्टन के रजाकार हैं जिस का खुला हुआ प्रोग्राम है, जिसका मकसद-खुदाई खिदमत है। और वे कुछ ऐसे-वैसे मामूली आदमी भी नहीं हैं, वल्कि उनमें बहुत से आला-दिमाग

हर तरह से सुख-सम्पन्न व्यक्ति भी हैं। उनकी महरबानी से हमने तरक्की भी बहुत की है। सन् ३५ के कानून के मुताबिक हमने सूबों में अपना-अपना स्वराज्य भी कायम कर लिया है, और कौन जानता है कि किस दिन हमें मुकम्मिल आजादी मिल जाय ? वाकईमें उन लोगोंने दुनियांके सामने एक नया रास्ता पेश किया है, जिस पर चलकर दुखी-सुखी बन सकता है, गुलाम को आजादी मिल सकती है, कठोर से कठोर जालिम का दिल मोम किया जा सकता है, जहां तोप और तलवार कारगर न हो वहाँ सत्याग्रह अपना रङ्ग जमा सकता है !

मामूली तौर पर ऐसे ही ख्याल लिये हुये हर चीज पर विचार किया जा रहा है। यह विचार-धारा अकारण ही पैदा नहीं हुई है, बल्कि इसके पीछे २० वर्ष के सत्याग्रह का इतिहास काम कर रहा है। गांधीजी के नेतृत्त्व में मुल्क ने कई बार सत्याग्रह की लड़ाई लड़ी और हर लड़ाई के बाद उसकी प्रतिक्रिया हुई। अब लड़ाई का यह तरीका इतना रवां होगया है कि इस दायरे के बाहर जाने; यहां तक कि सोचना भी हमारे लिये मुश्किल हो गया है। देश की सब से बड़ी प्रतिनिधि-जमात कांग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्त्व में ही इतनी तरक्की की, उसने हर हिन्दुस्तानी को गुलामी का अहसास कराया—ये सब वजूहात ऐसे हैं, जो हमें सत्याग्रह के प्रति मुहब्बत करने को लाचार करते हैं।

गांधीजी का इतना आभार मुल्क कभी भी नहीं भूल सकता। परन्तु अब हम यह सोचने लगे हैं कि हमने जो अपना स्वतन्त्रता का ध्येय बनाया है, उस तक सत्याग्रह हमें पहुंचा सकेगा? हम जानते हैं कि यह हलचल देशके सभी विवेक-शील पुरुषों के दिमाग के अन्दर चल रही है। परन्तु बार-बार के सत्याग्रही-रगड़े ने हमें साफतौर पर विचारकरने में लंगड़ा बना दिया है–यह एक कड़वा सत्य है। हम सत्याग्रह की आलोचना कर के उसकी प्रतिष्ठा को कम नहीं करना चाहते, बल्कि हमारा कहना तो यह है कि उसकी सीमा है, और उस सीमा के अन्दर उस से सुन्दर और कोई तरीका नहीं हो सकता। घर के भीतर पति–पत्नी और पिता–पुत्र में चलने वाली बातों को तलवार हल नहीं कर सकती, वहां सत्याग्रह और तसल्ली के साथ समस्या पर गौर करना ही बुद्धिमानी है। हम अपने भाईके दिलको बदलने की कोशिश करने में हद–दर्जे की कुर्बानी और अहिंसक–भाव दिखला कर दुनियां के सामने एक आदर्श पेश कर सकते हैं। यहां तक सत्याग्रह को शोभा-प्रतिष्ठा है, और हम उसे मानते हैं। परन्तु आगे चल कर जीवन के दूसरे संघर्षों में वह हमारा कहां तक साथ दे सकता है, इसके लिये हिन्दुस्तान की बीस वर्ष की तवारीख के सफे पलटने पड़ेंगे।

सत्याग्रह का विश्लेषण

सामूहिक रूपमें जितने सत्याग्रह–आन्दोलन चलाये गये

हैं, अगर हम उन पर वारीक नजर से गौर करें तो हमें मालूम होगा कि सत्याग्रह-आन्दोलन का व्यापक रूप में चलना आयन्दा असम्भव सा है। सत्याग्रह की तहरीक एक खास तरह की जमीन में ही पनप सकती है। वैसी जमीन बनना आगे वहुत मुश्किल ही नहीं वल्कि नामुमकिन है। लेकिन फिर भी मुल्क की निगाहें वार-वार घूम-फिर कर सत्याग्रह पर ही जाकर क्यों गढ़ जाती हैं, यह वात जरूर उलझन में डालने वाली है। इसका उत्तर पाने के लिये हमें मुल्क के मनोविज्ञान को पढ़ना पड़ेगा। तव ही सन्तोष-प्रद उत्तर मिल सकता है।

भावनाओंका देश

भारतवर्ष एक ऐसा देश है, जहां वहुत लम्वे अरसे से भावनाओं का राज्य चला आ रहा है। हमारे भावना प्रधान होने का ही यह नतीजा है कि हमने अपने दर्शन-शास्त्र को उस हद तक पहुँचा दिया जहां पर पहुंच कर साक्षात् व्रह्म की पदवी प्राप्त की जा सकती है। संसार के किसी भी मुल्क में जाइये, हमारे देश जैसे भावुक वहुत कम मिल सकते हैं। अभी तक हम उसी स्थिति में चले जा रहे हैं। हमने हमेशा ही धर्म को—चाहे धर्म का ककहरा भी न जानते हों—प्रथम स्थान दिया और उसके पीछे मरने में अपना अहोभाग्य समझा। हमारी भावनाओ ने

ही हमें जर्रे-जर्रे में भगवान् के दर्शन कराये। हमने पत्थर के पास जाकर उसके सामने सर टेका, उसमें प्रभु का नूर दिखलाई पड़ा। हमारे भावना प्रधान होने का और क्या सबूत हो सकता है कि देश में भिक्षा वृत्ति पर गुजर करने वालों की पल्टनें पड़ी हुईं हैं, और हम उनकी जरूरत ठीक उसी तरह पूरी करते हैं, जैसे कोई आजाद मुल्क अपनी फौज की करता है। हमारी भावुक वृत्ति हमें रेलवे के डिब्बे में बैठकर गङ्गा के पुल पर से गङ्गा-मैया की बीच धार में सोना-चांदी डालने को प्रेरित करती है, वह भी प्रदर्शन के लिये नहीं, वरन् बहुत ही गुप्त तरीके से कि कोई जान न ले।

ऐसा हमारा मुल्क है, और इसमें जो भी न हो जाय, सो थोड़ा ही है। जमाना बदल गया लेकिन हमारे काशी के बहुतेरे पण्डितों ने नल का पानी अभी तक नहीं पिया, उन्होंने बिजली की रोशनी अपने शास्त्रों के सफों पर नहीं पड़ने दी। हमारी भावना को कोई भी भड़का सकता है, और वह यदि कार्य-कुशल हो, तो जैसे चाहे स्तैमाल कर सकता है। इस बात को एक वाक्य में यों कह सकते हैं कि दुनियां का निर्माण होते समय हिन्दुस्तान के हिस्से में सिर्फ दिल दिया गया था। फिर क्या वजह है जो हम सत्याग्रह से न चिपके रहें। प्रहलाद ने अपने पिता के अत्याचार से तङ्ग आकर सत्याग्रह किया। हमारा धार्मिक इतिहास सत्याग्रह करने का प्रमाण पेश करता है। फिर सत्याग्रह भी

कैसा? जो सत्य और अहिंसा से पूर्ण हो। भगवान् गौतम-बुद्ध ने संसार को अहिंसा का उपदेश दिया, दुनियां उसकी मूर्त्ति के सामने सर झुकाती है। सत्य के पीछे होने वाला एक आदर्श बलिदान हमारे सामने है। राजा हरिश्चन्द्र ने अपना राज्य दिया, स्त्री वेची, मरघट पर डौम कर्म किया, तब भगवान् उनकी तपस्या से प्रसन्न हुये, और उन्होंने फिर अपना पूर्व वैभव पाया। वाकया यह है कि ऐसे लोग बहुत ही कम हैं, जो यह विचारें कि वास्तविक सत्य और अहिंसा क्या है? हमारी भावनायें अब हमें उस क्षेत्र तक में घसीट ले गई है कि विष-प्याला भी सत्य और अहिंसा के नाम पर पी सकते हैं। सत्याग्रह से अभी तक स्नेह इसी लिये दूर नहीं हो सका है। मेरा मतलब इन बातों से यह हर्गिज नहीं है कि जीवन के सुन्दरतम सिद्धान्तों से घृणा की जाय, बल्कि दुख इस बात से है कि हमारा विवेक इतना शून्य हो गया है कि सत्य और अहिंसा के मूल तत्व को पहिचानने की कोशिश करने से हमने इन्कार कर दी है। भावना भी जीवन को सुन्दर बनाने में एक हद तक सहायक है, परन्तु हम तो निरे भावना मय ही बन गये हैं। और मैं यह कह सकता हूं कि गत बीस वर्षों में गांधीजी ने हमारी भावनाओं को संतुलित न करके इस भाँति बढ़ाया है कि हमने वास्तविकता से मुंह मोड़ लिया और कवियों की दुनियां में जा बसे हैं।

सत्याग्रह कैसे पनपता है ?

खैर, हमें अब यह विचारना है कि सत्याग्रह किस प्रकार का वायु-मण्डल चाहता है। सन् २१ का जो आन्दोलन शुरू हुआ था, उसके पहिले कई वर्षों से जनता में तरह-तरह का असन्तोष चल रहा था। सरकार ने यूरोपीय महायुद्ध में हमसे मदद लेकर ठेंगा दिखलाया, जलियानवाला में खून की नदियां बहाईं, खिलाफत पर हमला करके मजहबी दीवाने मुसलमानों को भड़काया; गरज यह कि ब्रिटेन से ऐसे काम बन आये जिनसे हमारा असन्तोष बढ़ता ही गया, और सरकार ने भी खुद ही अपने पापों की गठरी खोल रख दी कि जिसके मन आवे वह आग लगा दे। जनता के मनोविज्ञान के कुशल पारखी गांधीजी ने इस स्थिति को समझा और इसी आधार पर उनका प्रचार शुरू हुआ। जरूरत सिर्फ इतनी ही थी इस असन्तोष का उपयोग किसी खास तरीके से सगठित रूप में किया जाय। गांधीजी के पास इस अनुभव की कमी न थी, और असहयोग के रूप में जनता के उस असन्तोष का प्रयोग कर दिया। मुल्क ने उनका नेतृत्व स्वीकार किया, और सत्याग्रह में जितनी दम थी, यानी साल भर में 'यदि' लगे हुये स्वराज्य दिलाने के वायदे में जितनी ताकत थी उस हद तक वह चला और चौराचौरी के नाम पर वह खत्म भी हो गया।

अब आइये सन् ३० और ३२ के आन्दोलन पर। एक ऐसी बात, जिसे माडरेट भी पसन्द न कर सके, साइमन कमीशन का हिन्दुस्तान में आना हुआ। फिर बताइये हमें सरकार की इस जहनियत पर गुस्सा क्यों न आता? शेरे-पञ्जाब लाला लाजपतराय को इसी कमीशन के स्वागत में लाठियों से घायल होकर जिन्दगी से हाथ धोना पड़ा। देश को उनकी जुदाई से बहुत सदमा पहुचा। उधर कुछ नौजवान भी धम-धूं किये हुये थे, और गांधीजी का अहिंसक देश मन ही मन उनकी कुर्बानियों को सराह रहा था। साथ ही ऐसे जवानो की भी तादाद बढ़ रही थी जो अपने दिमाग से काम ले रहे थे और गांधीजी की खुली हुई आलोचनाएं होने लगों थी, जिनमें आमतौर पर यह बेचेनी जाहिर होती थी कि साम्राज्य स हिन्दुस्तान अपना सम्बन्ध तोड़ दे। लाहौर कांग्रेस ने ऐसा प्रस्ताव भी पास किया। इन बातो से वायुमण्डल खूब गरमा रहा था। सन् २१ की तरह फिर रुई का ढेर तैयार था, सिर्फ आग लगाने भर की देर थी। गांधीजी ने फिर देश का नेतृत्व किया और मुल्क को सत्याग्रह की जंग लड़ने की ललकार दी। नमक-कानून भंग करने के लिये गांधीजी की दाण्डी-यात्रा शुरू हुई। उस यात्रा के दौरान में प्रोपोगेण्डा ने बिजली सी दौड़ा दी। सरकार समझ हो न सकी कि क्या होने जा रहा है। शुरू-शुरू में उसका रुख रह मानो उसे कुछ चिन्ता ही नहीं है।

इसी बीच में सत्याग्रह का प्रचार और प्रदर्शन बढ़ता ही गया। धीरे २ जो गिरफ्तारियां शुरू हुई, उनसे हमारा जोश और भी बढ़ा; उसने घी का काम किया। अंग्रेज यह देख कर चकराया और उसने सत्याग्रह की लड़ाई का एकसरे किया। आन्दोलन जब अपनी पूरी तेजी पर पहुंचा तो उसकी कूटनीति ने जोर मारा, फलस्वरूप गांधी–इर्विन सन्धि हुई। इसी सन्धि के दर्मयान में उसने अपनी प्रयोग-शाला में सत्याग्रह के अंग–प्रत्यंग का मुलाहिजा किया, और पता लगाया कि किस प्रकार की आवोहवा में वह पनप सकता है। जब उसे पूरा-पूरा पता लग गया तो उसने बजाय इसके कि सत्याग्रह का वार उसपर पहिले होता, खुद ही तरह–तरह के आर्डीनेन्स बना कर धावा कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि प्रचार और प्रदर्शन का मौका न मिल पाया, और एक समय ऐसा आया कि खुदही सत्याग्रह बन्द करना पड़ा।

असन्तोष-संगठन-प्रचार

इस प्रकार सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सत्याग्रह को पनपने के लिये असन्तोष और संगठन के साथ-साथ प्रदर्शन तथा प्रचार की मुख्य आवश्यकता है। यदि कोई रुकावट ऐसी आ जाय, जो इस प्रचार तथा प्रदर्शन को एक दम रोक दे, तो असन्तोष और अच्छा सङ्गठन होते हुये भी आन्दोलन क्रमशः विकास नहीं कर सकता, बल्कि

होते।" शायद इसी बात को देखकर सुभाष बाबू ने अपने वक्तव्य में कुछ ऐसा कहा था कि वक्त के मुआफिक नेता भी बदल जाता है। गांधीजी के सन् २०—२१ के और आज के वक्तव्यों की तुलना की जाय तो पहिले जैसी बात नहीं मिलेगी। मुल्क भी समझता है कि इन दिनो के वक्तव्यों में पहिले से क्या समानता है? एक बार तो यदि असहयोग न होता तो हिंसा फूट पड़ने का भय था और आज ऐसा मौका है कि जहां सत्याग्रह शुरू हुआ तो हिंसा फूट पड़ेगी। परन्तु गांधीजी हमारे इस सन्देह को दूर करने के लिये एक उत्तर देते हैं। राजकोट के सवाल पर विचार करते हुये गांधीजी ने 'हरि-जन' में लिखा था कि— "………पहाड़ की चोटी पर से मुझे यह घोषणा करनी चाहिये कि उन दिनों की अहिंसा उस अहिंसा से बहुत नीचे थी, जिसका कि मैं प्रायः वर्णन करता रहा हूं।" इस वक्तव्य को पढ़ने के बाद हम यह मानी लगा सकते हैं कि अपूर्ण-अहिंसा, यानी आधी हिंसा के सहारे ही गांधीजी के गत आन्दोलन चले थे, और अब चूंकि गांधीजी आन्दोलन मे पूर्ण अहिंसा चाहते हैं, इस लिये जब तक यह शर्त पूरी नही की जाती तब तक वे हिमालय जैसी भूल दुबारा नही करेंगे। भगवान् जाने वह दिन भी कभी आ सकता है या नहीं, जब गांधीजी की यह नयी परिभाषा हिन्दुस्तान पर घटित हो सकेगी? मेरी निगाह तो जहां तक जाती है, उसीके अनु-

सार कह सकता हूं कि ऐसा होना मुश्किल ही नहीं, वरन् नामुमकिन है।

सन् १९३२ ई० के आन्दोलन के अन्त में अकेले गांधीजी ही सत्याग्रही शेष रह गये थे, और आज भी उनके ही कहने के मुताबिक "........जन-साधारण में तो अहिंसा का भाव काफी परिमाण में मौजूद है। लेकिन जिन्हें जन-साधारण का सङ्गठन करना है उनमें वह काफी परिमाण में नहीं है।" वास्तव में बात तो यह है कि हम जिस चीज को दुनियादारी के प्रयोगशाला में बैठ कर फेल करार देते हैं, उसी को गांधीजी अहिसा-वादी प्रयोगशाला में मुश्किल घोषित करते है। और उसे अपनी भाषा में इस प्रकार बतलाते हैं कि— "............अहिंसा का जितना विकास मुझमें अभी तक हुआ है,अबतक की उत्पन्न परिस्थितियों का मुकाबिला करने के लिये वह काफी पाया गया है। लेकिन आज चारो ओर के हिंसा-मय वातावरण का मुकाबिला करने में मैं अपने को असहाय अनुभव करता हूं।"

इतना समझ लेने के पश्चात् दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिये कि सत्याग्रह अपना काम अपनी सीमा के भीतर समाप्त कर चुका है। यदि देश ने अब भी उसका सहारा नहीं छोड़ा, तो निश्चय है कि कोल्हू के बैल की तरह हजारों मील चलने पर भी वह बार-बार उसी स्थान पर पहुंचता रहेगा जहां से उसने चलना शुरू किया था।

गान्धीजी की अहिंसा
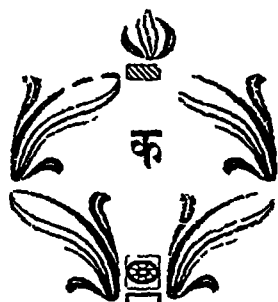
कहना न होगा, गांधीजी का प्रत्येक कार्य उनके कहे अनुसार अहिंसक ही हुआ करता है। उनकी अहिसा ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती है, हमारे लिए एक विकट समस्या बनती जाती है। वे अहिंसा की शोध मे इतना सतर्कता से काम ले रहे हैं, कि न केवल दूसरों के ही कार्यों में, वरन् कभी-कभी अपने कामों में भी हिंसा दिखलाई पड़ती है, और सत्य के पुजारी होने के नाते वे तुरन्त अपने द्वारा हुई, हिंसा की घोषणा कर देते हैं। पूर्ण अहिंसक की स्थिति प्राप्त करना उनका ध्येय है, तथा अहिंसा पूर्ण साधन ही उन्हे इच्छित है। परन्तु दिक्कत तो यह है कि यदि उनके द्वारा की हुई व्याख्या को स्वीकृत कर ले तो अजीब तरह की परिस्थिति में पड़ जायेंगे, तथा जो हमे किसी भी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकती है। एक विशेष बात यह है, जब से कांग्रेसी-मन्त्रि मंडल उनके आशीर्वाद की छत्र-छाया में बने तब से तो उन्होने अपने अहिंसा के प्रयोगों में कमाल कर दिखाया है। ऐसी दशा में हमारा विवेक चिन्तित हो उठता है और हम शङ्कित हो जाते हैं कि कहीं हम इस सत्य—अहिंसा के प्रयोगो मे-

ही अपने राष्ट्र के कीमती क्षण लम्बी मुद्दत तक बर्बाद न करते रहें। भारतवर्ष का प्रत्येक जागृत–मस्तिष्क आज इसी चिन्ता में लीन है। प्रत्येक विवेक-शील पुरुष इस समस्या का हल निकालना चाहता है।

ईश्वरका प्रतिनिधित्व

इतना ही नहीं, इन प्रयोगों से भी एक कदम आगे गांधीजी उस स्थान पर पहुंच जाते हैं. जहांपर तर्कका स्थान श्रद्धा ले लेती है, और हम सिवाय इसके कि आशा-पूर्ण नेत्रों से उसके फलितार्थ को देखें, कुछ और करते-धरते नही बनता। रोम्यारोलां ने गांधीजी की प्रशंसा करते हुआ लिखा था कि–"महात्मा गांधी ही केवल एक ऐसे ईश्वरके प्रतिनिधि संसार में आये हैं कि जिन्होंने न तो ईश्वर के प्रतिनिधि होने का ही दावा किया, और न भगवान् के साक्षात् दर्शनों और उनसे आज्ञा-प्राप्ति का दावा किया है।" परन्तु अब यह बात भी विचित्र सी लगने लगी है और ख्याल होने लगता है कि उन्हें अवश्य ही भगवान से आज्ञा मिलने लगी है। २६ फर्वरी १९३९ को राजकोट में अनशन करने के सम्बन्ध में गांधीजी ने श्री महादेवभाई देसाई को एक पत्र में लिखा कि—"मै वहां जा रहा हूं जहां ईश्वर मुझे लिये जा रहा है।" उसी दिन सर पुरुषोत्तमदास के इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कि–'यह अन्तरकी पुकार है, या राजनीतिक-निर्णय'

स्पष्ट शब्दों में कहा कि—"अन्तर की पुकार।" एक स्थान पर गाँधीजी ने इसी सम्बन्ध में लिखा—" ...... यह चीज़ तो यकायक ही मन में आई और मेरी अन्तरात्मा की तीव्र वेदना में से ही उत्पन्न हुई। उपवास के पहिले के दिन आर्द्र-हृदय की प्रार्थना मे बीते थे। जिस रात उपवास का निश्चय हुआ उससे अगली रात के अनुभव ने मुझे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ कर डाला था। क्या करना चाहिये यह मुझे सूझता नहीं था। सवेरा हुआ, और मुझे मार्ग दिखाई दिया। मुझे क्या करना था यह मुझे मालूम हो गया था, फिर भले उसका चाहे जितना मूल्य चुकाना पड़े।" श्री महादेवभाई देसाई ने भी लगभग उन्हीं दिनो लिखा था, "... ...और फिर ऐसी बात ईश्वर की प्रेरणा के बगैर भला कैसे हो सकती है? लेकिन जैसा कि मैंने कहा है, मैं सशरीर बापू के साथ से शेगांव और राजकोट रहा होता, तो एक-एक बात का वर्णन करके मैं यह भली-भांति बता देता कि उपवास प्रभु-प्रेरित था" और जब यह प्रभु प्रेरित उपवास वायसराय साहब के हस्तक्षेप से समाप्त हुआ तो गांधीजी उसके फल से अत्यन्त सन्तुष्ट हुये, तथा उन्होंने कहा कि मेरा यह उपवास जितना सफल हुआ है उतना इससे पहिले का और कोई उपवास सफल नहीं हुआ। न सही स्पष्ट शब्दों में, परन्तु देश ने यही समझा कि सचमुच में ही गांधीजी को इलहाम हुआ है। इलहाम

में अक्ल का दखल नहीं होता है, ऐसा सोच कर यह भावुक देश टुकुर-टुकुर देखता रहा और उसने फेडरेशन का विरोध करते हुये भी अपने नेता के जरिये, फेडरल कोर्ट के चीफ जस्टिस के निर्णय के सामने सर झुका कर उस (संघ-शासन) को बड़ी सफाई के तरीके से स्वीकार कर लिया। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी, गांधीजी को उस उपवास में हिंसा दिखलाई पड़ी। कितने आश्चर्य की बात है कि हमारा देश फिर भी ऐसे खिलवाड़ों के प्रति नत-मस्तक हुआ श्रद्धा प्रकट करता रहता है। परन्तु देश बेचारे को दोष भी कैसे दिया जा सकता है? गांधीजी से यदि प्रभु प्रेरित उपवास के बारे में कुछ कहा भी जाता तो वे राजकोट के सीनियर मेम्बर को दिये हुये उत्तर की तरह देश से कह देते—"पर अगर सत्तर वर्ष की इस जराजीर्ण अवस्था में मुझे एक ऐसे निर्णय पर फिर से विचार करना पड़े, जिसे कि मैंने इतने अधिक अन्तर्निरीक्षण और ईश्वर-प्रार्थना के बाद किया है, तब तो मैं यही कहूंगा कि जीवन के सत्तर वर्ष मेरे व्यर्थ ही गये" और यदि उपवास के समाप्त होने पर कहा जाय तो वे साफ साफ लफ्जों में हमारी बात को चिनौती समझ कर उसका उत्तर देने लगते हैं, कि "......... अगर वे मुझे अपना सेनापति और सत्याग्रह का विशेषज्ञ समझते हैं, तो उन्हें उसके साथ रहना होगा और चलना चाहिये, जो उन्हें मेरी सनक ही क्यों न मालूम होती हो।"

अब हम यह फैसला पाठकों पर ही छोड़ते हैं कि वे अहिंसा के प्रयोगों की यह "सनक" बर्दाश्त करना चाहते हैं या गांधीजी के नेतृत्व को हाथ जोड़ कर प्रणाम करेंगे ? क्योंकि यह 'सनक' एक दो बार की नही है. बल्कि बहुत बार हो चुकी है, और आगे होने की भी आशा है।

हम कहां हैं ?

अच्छा, अब इस अध्याय के मुख्य विषय अहिंसा पर हमें विचार करना है। हमें देखना है कि गाँधीजी की अहिंसा हमारे कितने काम की चीज़ है; और उसे हम क्यों नही अहिंसा मान सकते हैं।

हम यह मानते हैं कि वर्बरता और व्यर्थ की रक्तपात जनित हिंसा अथवा साम्राज्यवादी उद्देश्य से प्रेरित होकर की गई संगठित खून-खराबी, हमारी सामाजिक-व्यवस्था को संतुलित अवस्था मे नही ला सकती, और न समाज के सदस्य, व्यक्ति ही अपने जीवन को विकसित-रूप में फलता-फूलता देख सकता है। यह भी सत्य है कि अब वह युग नहीं रहा, जब सहिष्णुता जैसी चीज़ से नफ़रत की जाती थी. और हम प्रत्येक समस्या का हल अपने हाथ की चमकती हुई तलवार से किया करते थे। परन्तु जब हम फिर चारों ओर पैनी नजर से देखते हैं, तो हमारी आंखें खुल जाती हैं। हम जिस प्रकार की राजनैतिक और आर्थिक-

व्यवस्था में रह रहे हैं, उसकी रक्षा संगीन कर रही है। उसके सामने यदि सर झुका कर चलें, तब तो हमें अभय-दान मिल सकता है; अन्यथा अमन और शान्ति के नाम पर दुनियां से हमारा नाता तोड़ने के लिये, बल-प्रयोग करके हमें कानून की भेंट चढ़ा दिया जाता है। संक्षेप में, संगठित हिंसात्मक जङ्गलीपन से हमारा मुकाबिला है, फिर चाहे विकास और विज्ञान की दुहाई कितनी ही क्यो न दी जा रही हो। इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि आज हम उस स्थान पर हैं, जहां पर पूर्व जैसी हिंसा तो नहीं है, परन्तु साम्राज्यवादी और पूंजीवादी-युग की हिंसा हमारे नष्ट करने के लिये भली-भांति संगठित है।

इसका ही हमें मुकाबिला करना है, हम इसे संसार का कलङ्क समझते हैं, और इसे सर्वदा के लिये नष्ट कर देना है। हम यह भी नहीं चाहते हैं कि इस हिंसा का केवल मात्र स्थान परिवर्तन किया जाय, और एक दूसरे प्रकार की हिंसा उसके स्थान पर प्रतिष्ठित की जाय।

हिंसा—अहिंसा

अस्तु, अब आइये विचार करें कि अहिंसा और हिंसा में अन्तर क्या है। बल-प्रयोग और उसके साधनों को हम हिंसा कहा करते हैं, और जो इसके विपरीत हो, उसे अहिंसा। हम प्रत्यक्ष बल-प्रयोग का अहिंसा के साथ मेल

इस लिये नहीं बैठाते हैं कि उसके साथ अभी तक बहुधा बदला लेनेकी भावना अथवा अपने अनुचित अधिकारों की रक्षा करने का उद्देश्य रहा है। यही कारण है कि उसके प्रति हमारे दिलों में नफ़रत ही नफ़रत भरी है। परन्तु प्रश्न यह है कि बल-प्रयोग स्वत ही बुरा है, अथवा उसके साथ काम करने वाली, ये हिंसात्मक भावनाएँ ? यदि ये दूषित भावनाएँ उसमे से निकाल दी जांय, तो क्या उस बल-प्रयोग को अहिंसा नही कहा जा सकता है ? निश्चय ही, जिस प्रयोग के सहारे हम अपना स्वत्त्व की रक्षा कर सकते है, वह आक्रामक भी नही है, और न उसमें किसी प्रकार की हिंसा है। और फिर इतना ही क्यो, यदि हम बल-प्रयोग के आधार पर उसकी रक्षा कर सकते हैं, तो उसकी प्राप्तिके लिये किये जाने वाले बल-प्रयोगको हम हिंसा कैसे कह सकते हैं ?

इस प्रकार पाठकों का अब यह भ्रम दूर होगया होगा, कि देश को किस प्रकार का अहिंसक बनना है। इसी दृष्टि-कोण से पहिले हमने लिखा था कि साम्राज्यवादी शासन को हटाने के पश्चात् हिंसा को हम प्रतिष्ठित नही करना चाहते, अर्थात् अपने समाज के किसी भी सदस्य के न्याय-पूर्ण हकोंपर तलवार नहीं चलाना चाहेंगे और न हम अपने किसी शत्रु से, जिसने कि हमारे देश को राजनैतिक तथा आर्थिक-दृष्टि से अपंगु बना दिया है, कोई बदला ही लेंगे। सीधी सी बात तो यह है कि अपने ध्येय पर पहुँचने के

के लिये, जो कि निश्चय ही हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है, कोई भी साधन क्यों न ग्रहण किये जांय, वे अहिंसात्मक ही होंगे, उनमें हिंसा हर्गिज नहीं हो सकती।"

हमारी अहिंसा

परन्तु आज का गांधी-युग हमारे सामने एक अजीब तरह की अहिंसा पेश करता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिये निष्काम भाव से किया गया बड़े से बड़ा प्रयत्न भी, इसलिये निन्दनीय घोषित कर दिया जाता है, क्योंकि उसके साधन बल-प्रयोग के थे। यह स्थिति अत्यन्त दयनीय है, जिसमें हमने केवल अहिंसा की लाश को अपने सामने रख छोड़ा है, और उसके प्राणों की ओर से आंखें बन्द करली हैं। अब तो यह भी साफ-साफ कह दिया गया है कि अगर इसी मरी हुई अहिंसा के सहारे स्वतन्त्रता मिले, तो लेना चाहिये। वरना खून को लिपटी हुई आज़ादी हिन्दुस्तान को नहीं चाहिये। हम भी खून को लिपटी हुई आज़ादी नहीं चाहते, और हमारा रास्ता भी अहिंसा का ही होगा—लेकिन जीवित अहिंसा का, उस प्राण-हीन अहिंसा का नहीं, जिसका शरीर ज़रा से झटके में भग्न हो सकता है, जिसको परिस्थितियां और समय सड़ा-गला कर बर्बाद कर देता है।

गांधी-अहिंसा की प्रतिक्रिया
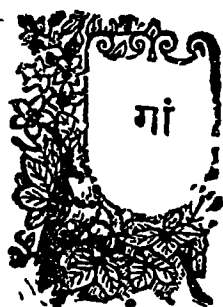
धीजी ने अपनी अहिंसा को. भरसक कोशिश करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, कि वह कमजोरों का हथियार नहीं है, उसे वलवान ही प्रयोग में ला सकते हैं। उन्होंने जब तब इसी लिये भारतीयों को शस्त्र रखने की स्वाधीनता देने को कहा है। लेकिन इसके वावजूद भी. मुल्क पर उनके अहिंसात्मक-सत्याग्रह का जो प्रतिविम्ब पडा है, वह बहुत ही निराश-पूर्ण और अन्तर में छिपी हुई कायरता पर सन्तोष करने तक ही सीमित रहा है। उनकी अहिंसा की यह फिलासफी एक कोठे में बंद दार्शनिक को चाहे भले ही राहत दे सके, परन्तु भारत जैसे पद-दलित राष्ट्र के लिये वह अत्यन्त अनुपयोगी है। उनके इस विश्वास ने, जिसका प्रयोग वे हम पर २० वर्ष से लगातार कर रहे हैं, हमारे विवेक को इस काबिल नहीं रक्खा कि हम समस्या को सही शक्ल में समझ सकें। हमने अहिंसा की व्याख्या करने तक अपने को परिमित बना रक्खा है। इस से आगे जाने की न तो चाह ही रहगई है, और न गांधीजी की कृपा से परिस्थितियां।

हम आज भारत के उस घोटू वायु-मण्डल में सांस ले रहे हैं, जिसे एक ओर से साम्राज्यवाद के विष ने प्रभावित किया है, और उससे हमारी नस-नस ढीली हो रही है, तथा दूसरी ओर एक सामूहिक-दृष्टि से असम्भव फिलासफी को अच्छे लफ्जों तथा अच्छे परिणाम दिखाने की आशा में लपेट कर पेश किया गया, जिसने हमारी कमर तोड़ दी है।

अहिंसा की यह व्याख्या इतनी अधिक प्रबल होरही है, कि साम्राज्य के कल-पुर्जे आसानी से स्वेच्छाचार करते रहते हैं, और हम अहिंसात्मक होने के नाते उनको ऐसा करने के लिये निमन्त्रण देते रहे हैं। मेरा तो ख्याल है कि इस प्रकार की अहिंसा से यह मान लेना आगे चलकर अधिक उपयोगी हो सकता है कि हमारी गुलामी और कमजोरी हमें सता रही है। तो हम क्यों न फिर उसे हटाने का प्रयत्न करें ?

अहिंसाकी सफलता

अहिंसा के प्रयोगों से जो फल निकला है-आज प्रत्येक गांधी-भक्त उसके गीत गाता फिर रहा है। वह फल साफ तौर पर एक प्रकार की हलचल, कुछ धुआं जैसा अधिकार जिसकी कोई वकत नहीं है और जो जरा हवा चलने से उड़ जाता है तथा उड भी चुका है—तथा कांग्रेस का व्यापक किन्तु भीतर से घुन लगा हुआ संगठन है। इसका वर्णन करते-करते और सुनते-सुनते हमारी आंखों में एक तरह का

खुमार भर गया है। हमने मान लिया है कि अहिंसा की यह एक बड़ी सफलता है। परन्तु हम इस बात को भुला देते हैं कि इन सबूतों से गांधीजी की अहिंसा तथा उसकी अमली शक्ल सत्याग्रह असफल हो साबित हुआ है। इस अहिंसा और सत्याग्रह के बिना भी मिस्टर-जिन्ना ने भी केवल तीन वर्ष के भीतर मुस्लिम-लीग का वह संगठन खड़ा कर दिया है जिससे अब सरकार, और न क्रांग्रेस ही चश्म-पोशी कर सकती है। मुसलमानों का एक बड़ा भाग लीग से अपने अधिकारों की रक्षा का आश्वासन पारहा है, और मुस्लिम जनता आंख बंद करके लीग के पीछे अपने वतन की मुहब्बत भी भुला बैठी है। उन्होंने भी कहने के लिये सूबों की सरकारों पर कब्जा जमा रक्खा है। उनके नेता को भी गांधीजी के साथ-साथ वाइसराय-भवन के दर्शन करने का निमन्त्रण मिलता है। गांधीजी के कहने के मुताबिक, उनकी सत्याग्रही जङ्ग, इन्हीं मिस्टर जिन्ना और उनकी लीग के कारण पड़ी पड़ी जङ्ग खा रही है। तो क्या इसके मानी यह हैं कि लीग की इस सफलता पर हम यह मान लें कि उसके नेता के उसूल ठीक, रास्ता दुरुस्त? रही बात ध्येय की, सो वह कौन मुकम्मिल-आजादी से कम चाहती है? तो फिर हम क्यों न इस तर्क से काम लें कि चूंकि उसके उसूलों ने इतना जबरदस्त-संगठन कर दिखाया है, इसलिये वह मुसलमानों को उनका मकसद भी जरूर हासिल करा देगा।

सारांश में अभिप्राय यह है कि इतने दिनों के संघर्षों के बावजूद भी हमारे पास ऐसी खोटी कसौटियां पड़ी हैं, जो मूल्य में दो-कौड़ी की भी नही, और जांच में तो बस सुभान-अल्लाह ही हैं।

कांग्रेस के अन्दर तो गांधीजी की अहिंसा ने और भी बड़े पैमाने पर असर डाला है। उसके भीतर गांधीवाद के नाम से एक समूह निर्मित होगया है जिस पर गांधीजी के उसूलों का प्रभाव ऐसा विलक्षण पड़ा है कि कुछ पूछिये ही नहीं! उसने 'गांधीवादी मन्त्रि-मण्डलों' से अद्भुत कार्य लिये, जिनका सम्बन्ध न तो प्रजातन्त्र-वाद के शुद्ध रूप से रहा, और न कांग्रेस के ध्येय पूर्ण-स्वतन्त्रता से। हम उसका विस्तृत वर्णन करके अपने विषयसे बाहर नही होना चाहते परन्तु फिरभी थोड़ा-सा प्रकाश डालना अनुचित न होगा।

नया विधान

नये शासन-विधान के अनुसार चुनाव के पूर्व एक घोषणा पत्र निकाला गया था। वह घोषणा पत्र अधिकांश अशिक्षित वोटरों ने पढ़ा नही होगा, उन्होंने तो कांग्रेसी प्रचारकों के प्रचार पर मुग्ध होकर ही 'गांधीजी के नाम पर उम्मेदवारों को वोट दिये थे। जनता के सामने प्रचार के जरिये एक बड़ा अच्छा सब्ज बाग रक्खा गया, और वह उससे प्रभावित भी हुई। अन्य दूसरी पार्टियां,

जो कि न तो इतनी सङ्गठित थीं, और कॉग्रेस के मुकाबिले में अत्यन्त निकम्मी भी थीं—अपने सङ्गठन और प्रचारकों के अभाव में नाकामयाब रही, फलत कांग्रेस को आशातीत सफलता मिली।

यद्यपि चुनाव-विधान को बिलकुल ठुकरा कर लड़ा गया था, परन्तु बाद में जिस प्रकार इस ठुकराने की व्याख्या की गई, उसे देखते हुये लगता है कि प्रान्तो मे हुकूमत करने का इरादा कर लिया गया था। मुस्लिम-लीग के उम्मेद-वारों के साथ, चुनाव के दौरान में जा व्यौहार किया गया था, उससे ज्ञात होता है कि गांधीजी के शिष्यो को अपना इतना अजेय बहुमत हो जाने की आशा नही थी, और इसी लिये उनके साथ दोस्ताना-बर्ताव रक्खा गया था, ताकि अवसर मिलने पर संयुक्त मन्त्रि-मण्डल बनाये जा सकें। परन्तु चुनाव के बाद परिस्थिति ऐसी हुई कि मुस्लिम-लीग की सहायता की आवश्यकता ही अनुभव नही हुई। उसी समय से मुस्लिम-लीग और कांग्रेस के बीच शत्रुता पैदा होगई है, और वह बढ़ते-बढ़ते उस हद तक पहुँच गई है कि मिस्टर जिन्ना ने भारत को हिन्दू-हिन्दुस्तान और मुस्लिम-हिन्दुस्तान के रूप मे बांट देना तै कर लिया है।

राजनीति में अवसर कितना साथ देता है, यह इसीसे जाना जासकता है कि चुनाव के पहिले कई बार कोशिश की गई, कि पद-ग्रहण का मसला तै होजावे, परन्तु गांधीजी के

शिष्यों ने उसे खटाई में ही डाले रक्खा, और जब उन्हें लगा कि पद-ग्रहण करने के काबिल उनका बहुमत है, तो तुरन्त ही मन्त्रि-मण्डल बनाने का फैसला कर डाला, और विधान को ठुकराने के मानियों की फौरन कलापूर्ण व्याख्या कर दी गई।

पद–ग्रहण

सत्याग्रह करके जहां २० वर्षों में कांग्रेस ने सर्व-साधारण की सहानुभूति और प्रेम प्राप्त किया था, उसे अकेले पद–ग्रहण ने ही समाप्त कर दिया। किसी भी निकम्मे और आश्रित विधान के अन्तर्गत काम करने का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ करता है। जनता के सामने, वोट लेने के जो वायदे किये जाते हैं, अथवा जनता जो कुछ समझ कर वोट देती है, यदि वह पूरा न हो सका, तो वह विरोध-भाव अख्तियार करती है, अथवा तटस्थ-भाव ग्रहण कर लेती है। अधूरी ताकतों के साथ कांग्रेस ने जो मन्त्रि–मण्डल बनाये, उसे शासन करने की महत्त्वाकांक्षा ही कहा जा सकता है। वह रास्ता क्रान्तिकारी हर्गिज नहीं हो सकता। परन्तु हमारे गांधीवादी महानुभाव इस शंका को आयरलैन्ड के डीवेलरा की मिसाल देकर हल करना शुरू कर देते हैं। ऐसा करते समय वे यह भूल जाते हैं कि डीवेलरा ने किन परिस्थितियों में ऐसा किया था, और हिन्दुस्तान को तो उस दशा तक पहुँचने में अभी बहुत देर है।

किसानकी नाराज़गी

पद-ग्रहण करने का गांधी-प्रयोग कांग्रेस के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। किसानों ने जो उम्मीदें लगाई थीं, वे उनकी पूरी न हो सकी, और वह असन्तुष्ट-दशा में बैठा हुआ है। बिहार के किसानों के साथ जो कुछ बीती, वह तो जग जाहिर है। स्वामी सहजानन्द सरस्वतीके नेतृत्व में किसानों ने अपनी कांग्रेस-सरकार से मोर्चा लिया, और किसान कार्य कर्त्ता हजारों की तादाद में जेल गये। अब उनके दिलों में कांग्रेस के प्रति कितना प्रेम रहा होगा, वे ही जान सकते हैं। किसान सभा और किसान कार्य-कर्त्ताओं को कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों में वे ही परेशानियां उठानी पड़ी जो ब्रिटिश-सरकार की स्वेच्छाचारी हुकूमत में उठानी पड़ती थी। उनके लिये न भादों सूखे रहे और न सावन हरे रहे।

जमींदारकी नाराजगी

जमींदार वर्ग को भी स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता के नाम पर कांग्रेस से कभी-कभी सहानुभूति हो जाया करती थी। यद्यपि संगठित-रूप में चुनाव के अवसर पर उन्होंने कांग्रेस का साथ नहीं दिया, फिर भी जब उनको बार-बार बताया गया कि कांग्रेस जमींदारों की शत्रु नहीं है, तो उनमें से कुछ ऐसे ज़रूर निकले जिन्होंने कांग्रेस-उम्मीदवारों की सहायता की। इस प्रकार के जमींदारों में छोटे जमींदार

अधिक थे। परन्तु ज्यों ही काँग्रेस सरकार ने किसानों के हित के लिये कुछ करना चाहा, तो वह लोग आड़े आये। यद्यपि किसानों को करोड़पति नही बनाया जारहा था, और न जमीदारियों को ही समाप्त, किया गया था, परन्तु अब क्या छोटा और क्या बड़ा, जमीदार नाम का जीव कांग्रेस के विरोध में है। इस प्रकार मुफ्त में क़िसान तथा जमीदार दोनों की सहानुभूति पद ग्रहण की वलि-वेदी पर चढ़ा दी गई :—

न खुदा ही मिला, न बिसाले सनम।
न इधर के रहे, न उधर के रहे॥

जैसी दशा हो गई।

मजदूर की नाराजगी

चुनाव के घोषण-पत्र में यह घोषित किया गया था, कि "श्रमजीवी मजदूरों के विषय में कांग्रेस का लक्ष्य यह है कि उनके रहने तथा गुजर-बसर का उचित प्रबन्ध हो, उनके काम करने के घन्टों और काम करने के नियम भारत की आर्थिक अवस्था पर ध्यान रखते हुये अंतर्राष्ट्रीय ढ़ंग पर हों, मजदूरों तथा मालिकों के बीच के झगड़ों को सुलझाने के लिये समुचित प्रबन्ध हो। बुढ़ापे बीमारी और बेकारी से उनकी रक्षा की जाय, और उनको अपने सङ्घ बनाने तथा अपने हितों की रक्षा के साधन की पूरी स्वतन्त्रता दी जाय।"

इन्ही मज़दूरों ने जब अपनी स्वत्व-रक्षा के लिये हड़ताले की और धरना दिया, तो गांधीजी ने उन्हें हिंसा-करार दिया। उनके आन्दोलन को कुचलने के लिये कानून लागू किये गये। अहमदाबाद और बम्बई की हड़तालों के अवसर पर मज़दूरों के साथ बल-प्रयोग किया गया। 'ट्रेड डिस्प्यूट एक्ट' जैसे काले-कानून की रचना की गई-जिसका भारतवर्ष-भर के मज़दूरो ने घोर विरोध किया।

उसने सोचा था कि कांग्रेस के राज्य में वह राहत की सांस ले सकेगा। उसके भटार जैसे घर में थोड़ी सुन्दरता आयेगी, उसके मरे जीवन में उमङ्ग आयेगी। परन्तु उसकी यह आशायें, आशायें ही रहीं, वे साकार न हो सकी।

ऐसा सोच कर मज़दूर का हृदय भी सहानुभूति शून्य हो गया। उसका ख्याल बन गया कि कांग्रेस की सरकारों ने पूंजीपतियों का साथ दिया।

पूँजीपतिकी नाराज़गी

कांग्रेस-सरकार की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखकर जब मजदूरों ने अपनी हड़तालें शुरू कीं, तो मिल-मालिको को लगा कि कांग्रेस की आड़ में रूस का लाल सांड़ आरहा है। यद्यपि हड़ताली मज़दूरों के साथ कांग्रेस की सरकारो ने सौतेले लड़के जैसा व्यौहार किया, परन्तु पूंजीपतियो को यही लगा कि यह सब कांग्रेस की शरारत है। ऐसा मान

कर उन्होंने अपना बाक़ायदा सङ्गठन किया; और जो कुछ भी हो सका, कांग्रेस के विरोध में किया। उद्योग-प्रधान शहरों में देखिये, तो ज्ञात होगा कि पूंजीपति कितनी बुरी तरह कांग्रेस से गुस्सा खाये हुये हैं।

मुसलमानकी नाराज़गी

कांग्रेसी सरकारों के ज़माने में ही मुर्दा मुस्लिम-लीग में जान आई। उसके नेता मन्त्रि-मण्डलों से वहिष्कृत होने के कारण जले-भुने बैठे ही थे, फलतः उन्होंने मुसलमानों को उभाड़ना शुरू किया। कांग्रेस-सरकारों ने भी जरूरत से ज्यादा हक़ूक देकर उनको सन्तुष्ट करना चाहा। किताबें छपा कर यह प्रचार किया कि हमने तुम्हारे लिये तुम्हारी संख्या से भी ज्यादा किया। मुसलमानों को लगा कि मुस्लिम-लीग के भय से ही कांग्रेस-सरकारें झुक रही हैं। ऐसा मान कर उन्होंने और भी ज्यादा मुस्लिम-लीग का साथ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ इने-गिने समझदार मुसलमानों को छोड़ कर आम मुस्लिम-जनता कांग्रेस के खिलाफ होगई, और थोड़े ही अर्से में उन लोगों ने मिल कर कांग्रेस के मुकाविले में एक प्रतिस्पर्द्धा करने वाली जमात खड़ी कर दी। इन मन्त्रि-मण्डलों के समय में मुसलमानों ने जरूरत से ज्यादा उत्पात जोता, तमाम साम्प्रदायिक दंगे हुये। इस गड़बडी की जिम्मेदार पूर्ण-रूप

से लीग ही है। मुसलमानों के जज़बात को और भी उभाड़ने के लिये लीग ने पीरपुर-कमेटी मुकर्रिर की। उस कमेटी ने कॉंग्रेस-सरकार द्वारा मुसलमानों पर होने वाले जुलमों! की एक लम्बी सूची बनाई, तथा उसी के आधार पर कांग्रेस की आड़ में हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों के दिलों में कूट-कूट कर नफरत भरी गई। जब कांग्रेस के मन्त्रि-मण्डलों ने स्तैफा दिये, तो मिस्टर जिन्ना ने तमाम हिन्दुस्तान के मुसलमानों से "राहत-दिवस" मनाने की अपील की। मानो कांग्रेसी सरकारें उनकी शत्रु थीं, और चूंकि उन्होने खुद ही स्तैफा देकर खुदकुशी करली है, इस लिये खुशियां मनाई जायें, मसजिदों में अल्लाताला से दुआयें की जायं। इस प्रकार गांधीजी ने पद-ग्रहण कराकर मुसलमानों के हृदय में एक लम्बे अर्से तक के लिये कॉंग्रेस तथा हिन्दुओं के प्रति घोर घृणा के भाव और भर दिये। कुछ तो पहिले ही थे, तथा कुछ ओर हो गये। अब नौवत हिन्दुस्तान के टुकड़े होने तक की आगई है।

हिन्दूकी नाराज़गी

शहरों की समझदार हिन्दू-जनता को इस बात का बहुत दुख है कि कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलो के जमाने में उनके हकूक पायमाल किये गये, और मुसलमानो को अनुचित बढ़ावा दिया गया। जितने भी साम्प्रदायिक दंगे हुये, इनमे

हिन्दुओं को ही अधिक क्षति उठानी पड़ी। काशी में तो दंगे का खतरा देख कर हिन्दुओं पर कर्फ्यू-आर्डर लगा दिया गया था, तथा जिसका प्रसिद्ध कांग्रेस के नेता दान-वीर बाबू शिवप्रसाद गुप्त तक ने कड़े शब्दों में विरोध किया था। हिन्दुओं को इस बात का अत्यन्त क्लेश है कि उनकी मातृभाषा हिन्दी को हिन्दुस्तानी का जामा पहिना कर भ्रष्ट किया गया। राजा रामचन्द्र को बादशाह राम और महारानी सीता को बेगम सीता कह कर उनका अपमान किया गया। चाहे इन आरोपों में अतिशयोक्ति कम ही हो, परन्तु आज हिन्दू आन्दोलन इन्हीं बातों को लेकर हो रहा है। बड़े-बड़े राष्ट्रभक्त हिन्दुओं को कांग्रेस की इस नीति का विरोध करना पड़ा है।

संक्षेप में बड़े-बड़े वर्गों पर जो प्रभाव गांधीजी की अहिंसा के प्रयोग ने डाला, यहां उन्हीं का वर्णन किया गया है। इनका उत्तर एक गांधी-भक्त यह कहकर दे सकता है कि उसके निष्पक्ष होने का यही एक सबूत है, कि सभी दल उससे नाखुश हैं। गांधीजी के लिये तो यह सब प्रयोग मात्र है। परन्तु प्रश्न तो कांग्रेस का है? वह सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व का दावा पेश करती है, अन्य तमाम संस्थाओं के मुकाबिले में उसके अनुभव तथा सङ्गठन को देखते हुये उसका दावा मौजूं भी है, परन्तु सभी की नाखुशी उसके निष्पक्ष होने की कौनसी कसौटी है? इसके मानी तो

यह निकलते हैं कि चूंकि उससे सभी असन्तुष्ट हैं, इसलिये वह किसी भी वर्ग की पूर्ण प्रतिनिधि नहीं है। इससे अच्छी तो मज़दूर-सभा, किसान-सभा आदि हैं, जो केवल एक ही वर्ग के प्रतिनिधित्व का सच्चा दावा पेश करतीं हैं।

इसका कारण

इस प्रकार की विषम-परिस्थिति में कांग्रेस को डालने का कारण एक-मात्र पद-ग्रहण ही है। इसी पद-ग्रहण ने कांग्रेस की क्रान्तिकारी मनोवृत्ति में वट्टा लगाया। वह गांधीजी व सत्याग्रह की होकर ही रह गई। पद-ग्रहण के जमाने में, सत्याग्रह के सताये हुये गांधी-वीरों ने अपने-अपने अरमान पूरे करने की कोशिश की। वर्षों से उनकी पत्नियां आभूषण-विहीन, निम्न-श्रेणी से मिलती-जुलती रहीं। उनके लिये यह एक मौका आया कि वे उनकी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। उनकी त्याग-वृत्ति, उनकी परेशानियाँ, सभी कुछ उनके लिये पुरानी चीजें होगईं। वल-पूर्वक दवी हुई उनकी महत्त्वाकांक्षा ने इस पद-ग्रहण के समय खूब सर उसकाया। उन्होंने कांग्रेस के भीतर मौका-परस्तों को आने का आवाहन किया, ताकि उनकी सत्ता में धक्का न लग सके, और वे मौके-बे-मौके गांधीजी के प्रति विश्वास का प्रस्ताव पास कर सकें।

हिटलरका तरीक़ा

जो भी हो, हमें यहां पर यह दिखलाना था कि पद-ग्रहण कराकर गांधीजी ने एक महान् गलती की। यदि ऐसे समय पर हिटलर होता, तो वह निश्चय ही पद-ग्रहण करने से इन्कार कर देता। एक बार जर्मनी ने उसे वाइस चांसलर बनाना चाहा, परन्तु उसने बल-पूर्वक इस पदको ठुकरा दिया। यह कैसे होसकता था कि नाज़ी-पार्टी का नेता 'वाइस' या 'सहायक' बनता? जिसके मस्तिष्क में एक क्रांतिकारी कार्यक्रम हो, वह ऐसी अधूरी ताकत को कैसे स्वीकार कर सकता है? हां कोई अवसरवादी हो तो दूसरी बात है। यदि कहीं हिटलर उस पद को स्वीकार कर लेता, तो वह भी कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की तरह असफल सिद्ध होता, और दुनिया उससे कहती कि नाजी-पार्टी का नेता इसी काबिल था। एक क्रान्तिकारी ऐसा कलङ्क कब बर्दाश्त कर सकता है?

गांधीवादी सम्प्रदाय

एक और जबरदस्त प्रभाव हमारे मुल्क पर पड़ा है, और वह गांधीजी के नाम पर-'गांधीवादी सम्प्रदाय' का निर्माण है। हालाँकि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, हमारे यहां कुम्भ के मेलों में स्त्रियां तक पण्डों को दान में दे दीजाती हैं, तो विवेक-बुद्धि के दान की वकत हम कर ही क्या सकते हैं? कोई भी व्यक्ति जिसे अपनी वाणी पर प्रभुत्व हो, तथा

जो अलौकिक क्रियाओ में निपुण होचुका हो, आनन-फानन किसी फिरके की रचना कर सकता है। सैकड़ों ही इस तरह के सम्प्रदाय दिखाई देते हैं। फिर गांधीजी तो हमारा इतने वर्षों से अध्यात्मिक-जामे में लिपटा हुआ राजनीतिक-नेतृत्व करते चले आरहे हैं, तथा जिन्हें महात्मा की पदवी पर हम बैठा चुके हैं। यह लाजिमी था कि कोई न कोई फिरका उनके पवित्र नाम के साथ जुड़ कर बनता ! वैसे इस का कानूनी रूप या कहिये बाकायदा दीक्षा लिये हुये महात्माओ का सङ्गठन गांधी-सेवासङ्घ है। परन्तु इससे कहीं ज्यादा इसकी ग़ैर कानूनी शक्ल है, और गांधीवाद के नाम से देश के कौने कौने में राजनीतिक दूकाने खुल गई हैं, तथा जिनका खास मकसद यह बन गया है कि सरकार की ओर से जब कभी कोई जूठा टुकड़ा फैंका जाय तो उस पर कब्जा जमाने के के लिये वे नाना प्रकार के त्याग तथा बलिदान के तमाशे रचते रहें, और इस प्रकार वोट प्राप्त करने की योग्यता बढ़ाते रहें। उनमें यह भी गुण पर्याप्त मात्रा में है कि वे अपनी इस अभिलाषा को गुप्त रखने का तरीका जानते हैं।

खतरनाक असर

लेकिन इस से भी खतरनाक असर इस सम्प्रदाय के विरोधी लोगों पर पड़ा है, जो कांग्रेस में वामपक्षी के नाम से पुकारे जाते हैं। अमूमन यह गांधीजी को, गांधीवादियो

को, पानी पी-पीकर कोसते हैं, लेकिन कोई भी अमली कार्य क्रम उनके पास ऐसा नहीं है, जिसे वे देश के सामने पेश कर सकें। हां एक चीज जरूर है, और वे कभी-कभी इस प्रकार की होड़ लगाने लगते हैं कि देखें सत्याग्रह पहिले कौन करता है ? और इस प्रकार उनके बड़े-बड़े मन्सूबे, ऊंचे आदर्श, सत्याग्रह की दीवाल से टक्कर लेकर पीछे लौटने लगते हैं। इस मामले में इतना साफ मानना पड़ेगा कि गांधीजी से अधिक सत्याग्रह-संग्राम की घाटियों से और कोई परिचित नहीं है, तथा उन्हींका हथियार लेकर, प्रगति के नाम पर जब वह चलते हैं तो यह कैसे मुमकिन हो सकता कि सड़ी नाव पर बैठ कर उनसे भी आगे निकल जांय ? गाँधीजी जिस प्रकार से आजादी की लड़ाई के साधनों की व्यवस्था चाहते हैं, सो एकदिन संघर्ष का ऐसा युग आयेगा जिस में होकर गुजरने पर उसका जो कुछ श्रीगणेश हुआ है, अजायबघर की शोभा बढ़ायेगा, तथा उसकी वापिसी के लिये दस-पांच सत्याग्रही भूख-हड़ताल करते देखे जायेंगे। "निर्बलके बल राम" की तरह सत्याग्रहियों का भी आखिरी बल उपवास हुआ करता है, तथा वह खिजे-हृदय से आशा करता है कि दुनियां से कूच करते हुये इस नामुराद की खाली झोली को कोई अल्लाह का प्यारा भर देगा। परन्तु प्रगति के पथ पर भागती हुई दुनिया को उस झोली में एक टुकड़ा तक डालने की भी फुर्सत नहीं मिलेगी। क्योंकि तब तक वह

इन नामुरादों की प्रकृति से काफी परिचित हो चुकेगी। इसलिये गांधीजी के सम्प्रदाय से मत-भेद रखने वालों को अपना एक रास्ता चुनना ही पड़ेगा। यदि नहीं, तो इतिहास में उन्हें 'गुलगुले खाकर गुड से परहेज' करने वालों के नाम से याद किया जायगा।

सन्धि या राष्ट्र-अपमान

न् १९३९ के अन्तिम दिनों में, जब कि ब्रिटिश साम्राज्य यूरोपीय महायुद्ध की आग में कूद पड़ा था, भारत के लिये एक ऐसा अवसर था, जिसमें कोई भी पद-दलित और पराधीन राष्ट्र उस अवसर से अपने को लाभान्वित किये बिना न रहता। यदि उसके कर्णधारों में राजनीतिक विवेक होता तो उसे अवसरवादिता नही कहा जा सकता था, वह तो प्रकृति का विधान है। पिजड़े में बन्द पक्षी, यदि अपने बहेलिये की असावधानी या संकटग्रस्तता का लाभ उठा कर, स्वतन्त्र-वायु में विहार करने की अपनी स्वाभाविक इच्छाके वशहोकर उड़ जाय, अथवा उड़नेके प्रयत्न में पिंजरे की तीलियों को झकझोरे, तो क्या उस पर अवसरवादी होनेका दोष लगाया जायगा? और क्या इसे महानता कहा जायगा जो वह पक्षी यह सोचे, कि उसका मालिक जीवन मुक्ति के लिये समाधि लगा कर रहा है, इस लिये उसकी बेहोशी का लाभ न उठाया जाय, और उससे क्यों न पूछा जाय, कि समाधि समाप्त होने पर तू पिंजड़े का दरवाजा खोल कर अपने पापों की गठरी हलकी करेगा? लेकिन

गांधी-युग की यह विशेषता है, जो वह ऐसे अवसरों पर अपनी थोथी अहिंसा-वादी फिलासफी निकालता है, और कहता है कि यह अवसरवादिता है, हिंसा है, और चूंकि हिंसा है इसलिये अहिंसा-वादी होने के नाते अकर्मण्य बने बैठे रहो, अकर्म में कर्म के दर्शन करो।

एक अवसर

परन्तु इसके विपरीत दक्षिणअफ्रीका की पार्लामेन्ट में भूतपूर्व प्रधानमन्त्री जनरल हर्टजोग कहते हैं, कि "मै इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि दक्षिण अफ्रीका को तटस्थ रहना चाहिये, और ब्रिटेन-फ्रांस के खिलाफ किसी भावना से, उत्तेजित नहीं होना चाहिये। मुझे युद्ध से दुख है। ब्रिटेन और जर्मनी को मित्र होना चाहिये, जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता के लिये काफी वलिदान किया है। युद्ध में यूरुप को खतरे की हालत में डाल दिया है। हमें एक ही मार्ग सूझता है, और वह यह कि हम युद्ध से ही अलग न हों, वल्कि ब्रिटेन से भी अपना सम्बन्ध तोड़ दें।" हिन्दुस्तान में भी गांधी-युग से विद्रोह करने वाले बाबू सुभाषचन्द्र बोस कहते हैं कि "वर्तमान अवसर से हमें अधिक से अधिक लाभ होना चाहिये।" उनके ऐसे विचारों के कारण और साफ-साफ कह देने पर, कि कांग्रेस की वर्तमान प्रभु-शक्ति ने कांग्रेस का झण्डा नीचे झुका

दिया है, बेचारों को बहिष्कृत सी दशा में अपने को देखना पड़ रहा है।

एक रास्ता तो यह था, कि जिस पर भाग्य-निर्णय के अवसर पर देश चलता; तथा दूसरा मार्ग सीधा-साधा यह भी हो सकता था कि आँख बन्द करके, मुल्क को गुलाम बनाने वाले साम्राजी आक़ाओं के सामने खुशामद करते हुये दुम हिलाते और कहते, कि मेरे मालिक! तेरा जहां पसीना गिरे वहां हिन्दुस्तान अपना खून बहा देगा। अगर तू चाहे, और तेरा ख्याल हो कि फ्रांस और जर्मनी के फील्ड में काले हिन्दुस्तानियों के सुर्ख खून से साम्राज्य का किला मजबूत होगा, तो कर ले भर्ती हमको, और भेज दे कटाने के लिये फौज में। लेकिन यदि ऐसी स्पष्टवादिता से काम लिया जाता तो गांधी-युग के प्रति लोगों में नफरत भर जाती, इसलिये सत्याग्रह-शास्त्र से अनुमोदित एक तीसरा ही रास्ता ग्रहण किया गया। यह रास्ता सन्धियों और सुलहचर्चाओं का था। पुस्तक लिखते समय तक यह पवित्र वार्ताएं चल रहीं हैं। गांधीजी गर्व के साथ अपने इस प्रयत्न की घोषणा करते हुये कहते हैं कि "मैं लड़ाई शुरू करने के लिये छटपटा नहीं रहा हूं। मैं लड़ाई से बचने का प्रयत्न कर रहा हूं। कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मेम्बरों के लिये चाहे जो बात हो, किन्तु सुभाष बाबू के इस आरोप का मैं पूर्ण रूपसे समर्थन करता हूं

कि मैं ब्रिटेन से समझौता करने के लिये उत्सुक हूं, अगर वह सम्मान के साथ हो सके। और फिर भी यदि समय आया, और अगर मेरा एक भी अनुयामी न रहा, तो मैं अकेला रह कर लड़ाई लडूंगा। परन्तु ब्रिटेन में मैंने विश्वास अभी नहीं खोया है।..........जो लोग मुझ से मतभेद रखते हैं उनके दृष्टिकोण से शायद मेरी वह समझौते की भावना मेरी एक अयोग्यता हो। यदि यह अयोग्यता है तो देश को इसे समझ लेना चाहिये।"

वायसराय साहब और अंग्रेजी सरकार में गांधीजी का इतना विश्वास अकारण ही नहीं है। वायसराय साहब ने जनवरी १९४० को बम्बई के ओरिएन्टल क्लब में भाषण देते हुये फर्माया था कि "साम्राज्य की सरकार का उद्देश भारतको औपनिवेशिक स्वराज्य देना और वर्तमान परिस्थिति तथा इस उद्देश की पूर्ति के बीच के समय को यथा सम्भव न्यूनतम करना है।" इसी आश्वासन पर गांधीजी ने अपना उपरोक्त वक्तव्य दिया था। इसके बाद ही गांधीजी को वायसराय ने भेंट के लिये बुलाया। सारे देश में आशा का वातावरण बन गया। गांधीजी के प्रचारकों ने समझौते की चर्चा को इतना अधिक महत्व दिया और इस तर्ज से प्रचार का घोड़ा दौड़ाया कि लगा—समझौता हुआ, अब हुआ। लेकिन ५ फरवरी १९४० को मिलने के लिये जाते समय मक्खी छींक गई, यानी मोटर

का रास्ता बिल्ली काट गई, और गांधीजी खाली हाथों ही वापिस आये। देशके समाचार पत्रों में बिल्ली के रास्ता काटने का जिक्र बड़े जोरों का रहा, मानो उस असफलता का दोष उसी गरीब बिल्ली को था? गांधीजी ने भेंट के बाद ही एक वक्तव्य प्रकाशित करके कहा, कि "वार्ता की असफलता से मुझे कोई मायूसी नही हुई। मै इस असफलता को भविष्य मे सफलता के रूप में परिवर्तन होने का पहिला क़दम समझूंगा, और मुझे विश्वास है कि वायसराय भी ऐसा ही करेंगे··· ········।"

इस भेट के पूर्व भी, गांधी जी दो बार वायसराय से मिल चुके थे। उन दोनों मुलाकातों की भी यही गति हुई थी। वे २१ अक्टूबर १९३८ को घोषित कर चुके थे कि "··· ··· ··वायसराय के शब्द बहुत गोलमोल हैं, और उनका स्पष्टीकरण नही किया जा सकता। ·· ····· ···कांग्रेस यह चाहती है कि भारत को एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाय। भारत उत्साह पूर्वक युद्ध में शरीक हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि उसके साथ ऐसे शब्दों में बातें की जांय कि उनका और न कोई अर्थ न निकले।······ मैंने यह आशा की थी कि यूरोपीय सङ्घर्ष से अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने कटु अनुभव प्राप्त करके नये रूप से कार्य करने का ख्याल किया होगा, पर वह आशा कुछ समय के लिये दूर हो गई है।"

युद्धसङ्कट-काल की पहिली भेंट के बाद भी गांधीजी ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया था, कि "..... ....मैं वायसराय महोदय के स्थान से खाली हाथ लौटा हूं। मुझ से स्पष्ट या गुप्त कोई समझौता नहीं हुआ। ... . मानवता के दृष्टिकोण से मेरी सहानुभूति ब्रिटेन और फ्रान्स के साथ है। जो लन्दन अवतक अटूट समझा गया है उसके बर्बाद होनेकी बात सोचने मेरा दिल दहलता है। मैं अधीर हो गया हूँ। हृदय के अन्दर परमात्मा मे इस प्रश्न पर हमेशा लड़ाई रहती है कि ऐसी बातें क्यों होने देता है। मुझे अपनी अहिंसा बिल्कुल बेदम मालुम पड़ती है। परन्तु प्रत्येक दिन की लड़ाई के बाद में यह सन्देश मिलता है कि न तो ईश्वर ही और न अहिंसा ही बेदम है। चाहे मुझे अपनी कोशिश मे असफलता मिले परन्तु पूरे विश्वास के साथ मुझे अहिंसा का प्रयोग करने रहना चाहिये।"

अस्पष्ट नीति

इस प्रकार समझौते का खेल चल रहा है। कभी आशा की किरण दिखाई पड़ती, कभी लन्दन की बर्बादी से दुख लगता, और कभी अहिंसा के बेदम होने का ख्याल आता। कौन जाने, और किसे अधिकार है जो युग-निर्माता के ऐसे प्रयोगो का रहस्योद्‌घाटन करे? ये जो कुछ दूर से दिखाई पड़ता है, और साधारण विवेक समझता है, उसे देखने

हुए तो ऐसा लगता है कि इस समझौते की फजीहत से वे कहीं अच्छे हैं जो खुल्लमखुल्ला वफादार हैं! उन्हें अपनी वफादारी में तो पक्का विश्वास है। उन्होंने तय कर लिया है कि सङ्घर्ष के मार्ग पर चलने में वे असमर्थ हैं, और अपने ख्याल के मुताबिक एक निश्चित ! रास्ते पर चले जारहे हैं। साम्राज्य की सहायता ये लोग धर्म ! समझकर कर रहे हैं, और गांधीजी धर्म-संकट ! के डर से समझौते की कोरी वार्त्ताएं करते हुये एक प्रकार से उन वफादारों का समर्थन कर रहे हैं। क्योंकि सारा काम वेरोक-टोक हो रहा है। एक जी-जान से कोशिशें कर रहा है, और दूसरा मानवता के नाम पर समझौता करने के लिये उतावला है। फर्क केवल इतना ही है। गत महायुद्ध के समय दोनों ही एक खूंटे पर थे, और कौन जाने,-कल फिर दोनों ही एक पथ के पथिक बनें। यह मुसाफिरों की योग्यता होगी, जो वे अपने-अपने ख्याल में यात्रा-गीत गावें, जिनमें वफादारों का गीत नंगा हो और अहिंसाके देवदूतोंका पश्मीने के शालमें लिपटा हुआ।

लेकिन, अभी तो कुछ ठिकाना हो नहीं? एक ओर तो गांधीजी कहते हैं कि— "मैं यह बड़े दुःख के साथ अनुभव करता हूँ कि भारत अब भी अहिंसात्मक सामूहिक-सत्याग्रह के लिये तैयार नहीं है।" और दूसरी तरफ अंग्रेज राजनीतिज्ञों से असन्तोष प्रकट करते हैं, तथा साथ में समझौते के लिये ब्रिटेन के साथ रहने का आश्वासन देते हुये आकुल हैं, और

जबकुछ नही वन आता तो दु खी होकर यह कहने लगते है कि"......मैं यह निश्चितरूपसे जानता हूं कि यदि मैं कॉग्रेस के सन्तोष के अनुसार अहिंसात्मक-कार्य का तरीका नही निकाल सकता और साम्प्रायिक समझौता नही होता, तो संसार में ऐसी कोई बात नही है जो हिंसा उठ खड़ी होने से रोक सके, और जिसका नतीजा इस समय विद्रोह तथा खून-खरावी पूर्ण नाश होगा।" सम्भवतः ऐसी ही वातो को देख कर श्रीयुत सुभाषचन्द्र वोस कहने लगते हैं कि "महात्मा गांधी की आजकल ऐसी अस्पष्ट स्थिति है कि वे कांग्रेस के लोगों को ऐसी सलाह देते हैं जिससे उन्हें वड़ी परेशानियां होती हैं।"

वाकया यह है कि गांधीजी का यह तरीका कुछ आज का नही है, बल्कि बहुत ही पुराना है। सत्याग्रह की गाड़ी ऐसे ही चक्करदार रास्तों से होकर गुजरती है, और जव सर्व साधारण इस मार्ग के रहस्य को नही समझ पाते तो यह कहकर सन्तोप कर लिया करते हैं, कि खुदा की वातें खुदा ही जाने। गांधीजी भी ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, यदि उनके कार्यों में रहस्य हो तो क्या मुजायका? फिर भी वुद्धि, रहस्य का पता लगानेके लिये उत्सुक रहती है, यही उसका गुण है। पिछले अध्यायों मे हम वता चुके हैं और अव फिर वताना चाहते हैं कि इस उलझी हुई स्थिति की जिम्मेदारी राजनीति में अदूरदर्शिता पूर्ण निश्चय से काम करने के ऊपर

है। अल्प-संख्यकों को कोरा चैक देने से, या उनकी मजहबी भावनाओं पर और भी अधिक मजहबी पागलपन की पुट चढ़ाने से कभी भी अल्प-संख्यकों की समस्या हल नहीं हो सकती। और साथ ही इसके गांधीजी की अहिंसा और सत्याग्रह का भी युग चला गया, चाहे इस ध्रुव-सत्य के निष्कर्ष को इस कान से सुना जाय या उस कान से। ऐसी स्थिति में यह कहने से भी काम नहीं चल सकेगा कि खून--खराबी होगी। अंग्रेज-सरकार के दिमाग पर इसका कोई भी असर नही पड़ सकता। यदि ऐसी ही बातों से वह प्रभावित होती तो आज तक दुनिया के साम्राज्य समाप्त होगये होते और दुनिया युद्धों की आग में न जलती। लखनऊ से निकलने वाले कांग्रेसी अंग्रेजी-दैनिक- "नैशनल हैरल्ड" के विशेष सम्वाददाता द्वारा लन्दन से भेजे गये, १५ फरवरी १९४० के समाचारमें छपा था कि इस समय ग्रेट-ब्रिटेन में भारतीय राजनीतिक-संकट को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जारहा है। यह ठीक भी है, सत्याग्रह पर अवलम्बित रहने वाले देश में ऐसा कोई संकट हो भी कहां सकता है जिसमें ब्रिटेन को कोई परेशानी अनुभव हो, या वह उसे कोई विशेष महत्व दे। ब्रिटेन सत्याग्रह की नस-नस से परिचित हो चुका है. फिर चिन्ता किस बात की?

समझौता क्यों नहीं ?

दो पक्षों में, जिनके स्वार्थ परस्पर विरोधी हों, समझौता

उसी समय हो सकता है जब एक पक्ष यह महसूस करे कि यदि समझौता नहीं होता, तो समझौते से जो कुछ मिल रहा है, वह भी न मिल सकेगा। इन समझौता करने वालों में यदि एक पक्ष के अधिकारों को दूसरा पक्ष पहिले से ही दवाये हुये हो, और किसी अवसर ने उसे समझौते का तमाशा करने को वाध्य किया हो, तो सवलपक्ष समझौते को शैतान की आंत कर देगा, तथा वह उसे खातमे पर उस समय तक नहीं आने देगा, जबतक कि उसे इच्छित न हो। ऐसी दशा में निर्बल पक्ष, समझौते-काल का औजार बन जाता है। एक प्रकार का बदनाम समझौता और भी है, जो एक की छाती पर चढ़कर दूसरा जबरदस्ती कराता है। ऐसे समझौते में कूट-नीतिज्ञता खुल जाती है। परन्तु निर्बल-पक्ष को अपने आत्म-सम्मान में धक्का लगता हुआ भी न मालूम दे, और सबल-पक्षका मतलब भी हल होजाय, तो ऐसे समझौते में कूट-नीतिज्ञता अच्छे परिमाण में रहती है। कभी-कभी जब सबल पक्ष को कूट-नीतिज्ञता ज्यादा जोर मारती है, तो वह क्षणिक-सन्धि भी कर सकता है, और ज्योंही उसकी जरूरत पूरी हुई, वह सन्धि के पवित्र अक्षरों पर स्याही फेर देता है। इस तरह समझौते कई प्रकार के हुआ करते हैं। गांधी वाइसराय समझौते के प्रयत्न में ब्रिटेन अपनी सफल कूट-नीतिज्ञता से काम ले रहा है।

गांधीजी आशाओं को लिये हुये नई-दिल्ली में वाइसराय

भवन की यात्रा करते हैं. और जब वे वापिस लौटते हैं, तो वे एक उलझन भरी परिस्थिति में अपने को पाते हैं। वाइसराय महोदय, गांधीजी को देशी राजाओं की समस्या में उलझाते हैं, और यदि उन्हें लगा कि केवल यह उलझन ही पर्याप्त नहीं है तो मिस्टर जिन्ना को भी मिलने का निमन्त्रण देकर अल्पसंख्यकों का हौआ दिखा देते हैं।

ऐसा क्यों हो रहा है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये यह देखना चाहिये, कि यदि गांधीजी को ईमानदारी से पता भी लग जाय कि ब्रिटिश-सरकार उनके साथ कूटनीति बरत रही है, और वे उस दशामें क्या कर सकते हैं? ब्रिटिश गवर्नमेंट अपनी हर चालका हिसाब आना-पाइयों में लगाया करती है. इसलिये वह यह खूब समझती है कि गांधीजी के रूठ जाने से उसका क्या बिगड़ सकता है। जब गांधीजी स्वयं ही सत्याग्रह के लिये देश को अयोग्य घोषित कर चुके हैं, तो फिर वह क्यों शङ्कित हो, और क्यों राष्ट्रीय-भारत की आकांक्षाओं की पूर्ति करे ? हां, यदि गांधीजी के पीछे कोई ताकत होती, और देश को इस मुगालते में डालने की कोशिश न की जाती कि बिना संघर्ष के ही ध्येय प्राप्त हो सकता है, तो अवश्य ही गांधीजी के प्रयत्नों का कुछ निष्कर्ष निकलता। गांधीजी जिस दृष्टिकोण और परिस्थितियों में समझौते की कोशिशें कर रहे हैं, उसके भाग्य में सफलता नहीं लिखी। उन्हें तो देश का चक्र टालना है, अपने नेतृत्व

की नब्ज गिरने पर मकरध्वज-भस्म की मात्रा देनी है, तथा इस प्रकार— 'रुको और देखो' का नारा बुलन्द करते हुये अपने युग की जिन्दगी का प्रमाण देना है। आखिर को हो भी क्या ? जीव की मोहमयी-प्रकृति की वलिहारी है, जो जो वह बंदरिया को प्रेरित करती है कि वह मरे बच्चे को भी उस वक्त तक अपनी छाती से चिपकाये रहे. जबतक कि उस का अङ्ग-अङ्ग सड़कर नष्ट न हो जाये। लेकिन मनुष्य का विवेक इस से बढ़ा हुआ है, और होना भी चाहिये। राष्ट्र के स्वाभिमान का यह तकाजा है कि ऐसे प्रयत्नों को समाप्त किया जाय। परन्तु सत्याग्रह के शास्त्र में असफलता और और पराजय जैसे शब्द हैं हीं नहीं ! इस लिये ऐसी आशा करना अनुचित ही नहीं, वरन् युग-निर्माता के प्रति अक्षम्य अपराध भी है!

यह एक प्रसन्नता की वात है कि देश इस प्रकार की वातों को समझने लगा है, और धीरे-धीरे ऐसा अवसर आ ही रहा है जब कि वह अपने उस मोह को समाप्त कर देगा, कि जिसकी उत्पत्ति गत २० वर्ष से चले आने वाले गांधी-युग ने की है। उस समय हमारे पराधीन देश का विवेक, अपने शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से अपनी पराधीनता की समस्या पर विचार करेगा तथा एक रास्ता भी खोज कर उसपर चलने के साधन जुटा लेगा। हां, इसके लिये इतनी आवश्यकता अवश्य है कि हमारी राष्ट्रीय-भावनाएं जागृत

रहें, तथा इसी हेतु किसी-न-किसी रूप का शुद्ध राजनीतिक आन्दोलन भी चलता रहे। तब, उस समय हमारे देश का कोई नेता अपने पीछे आजादी के मतवालों की असीम संघ-शक्ति को लेकर ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि वाइसराय से समझौता करेगा, तथा उस समझौते का भाग्य पूर्णतया उसी के हाथ में होगा।
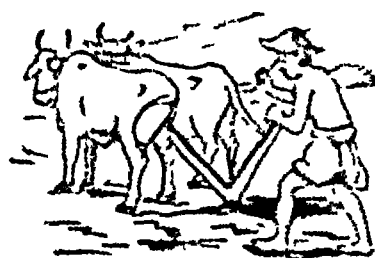
उपसंहार

२० वर्ष के गांधी-युग की झांकी, जब फिल्म की तरह आँखों के सामने आती है, तो चित्त में प्रश्न उठता है कि उसकी देन क्या रही; और यदि उसने देश को कुछ दिया है तो वह कब तक और देता रहेगा।

निस्सन्देह, इस युग ने एक चीज़ मुल्क को दी है। और वह है इस युग निर्माता का ऊंचा व्यक्तित्व—जिसे दुनियां जानती है, भारत जानता है, और ब्रिटिश सरकार भी उसे अपना सम्मानित महमान बनाना चाहती है। वह ३५ करोड़ भारतवासियों की ओर से बोलता है; और तब उसका दावा सुनकर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है।

परन्तु इसके बाद कुछ और भी? ज्योंही यह प्रश्न सामने आता, हम अपना दृष्टि-कोण बदल कर विशुद्ध राजनीतिक कर देते हैं, और चिराग लेकर तलाश करने निकल पड़ते हैं कि हिन्दुस्तान अपनी कितनी मंजिल तै कर चुका है?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के पूर्व यह भी विचारना चाहिये कि मञ्जिल है क्या? कोई भी परतन्त्र देश हो, वह स्वतन्त्रता चाहता है। यही चाह उसकी मञ्जिल है,और इस चाह का साकार रूप देखने के लिये वह जितने साधन जुटा सके, समझना चाहिये कि उतनी ही मञ्जिल तै हो चुकी।

गांधी–युग को इस कसौटी पर देखने से जो परिणाम निकलता है, वह असन्तोष–प्रद होने के साथ ही अत्यन्त निकम्मा भी है। और वह ऐसे, कि आज आजादी प्राप्त करने के साधनों का नितान्त अभाव है। कुछ आशा भी होती, लेकिन दृष्टि–कोण तक बदल गया है।

गांधीजी के कहे अनुसार, यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लें कि सत्याग्रह में ही देश की मुक्ति है, तो वे स्वयं भी निराश हैं, और कहने लगते हैं कि "फिर चाहे मैं ही अकेला सत्याग्रही क्यों न रहूं।" २० वर्ष का समय, जो सत्याग्रह की साधना में कटा, उसने केवल एक सत्याग्रही पैदा कर पाया। उससे आगे और क्या आशा की जाय? रही समझौते की बात, सो साफ ही है। यदि ऐसे आजादी मिला करती, और दूसरों की आजादी का अपहरण करने वालों का विवेक इस योग्य होता, तो वह अब तक मिल भी जाती और सम्भवतः परतन्त्र होने की नौबत ही न आती। और फिर तत्व की बात तो यह है कि आजादी तथा गुलामी में समझौता नहीं हुआ करता है। हां, यदि कोई ऐसा राष्ट्र 'समझौते' शब्द में अपनी ममता फंसा बैठा है तो केवल यही समझौता हो सकता है कि उसके दावे को अक्षरशः माना जाय, और वह तभी माना जा सकता है जब मनवाने वालों के पीछे शक्ति हो। उस शक्ति को यह गांधी–युग पैदा नहीं कर पाया है, न कर सकेगा।

(LIBRARY)

एक ही मार्ग

परतन्त्रता हरण के नाम पर 'उत्पन्न हुये गांधी-युग का जब यह हाल है, तो उसका अन्त होना चाहिये। अन्त हो भी चुका है, परन्तु उसके फिर से जीवित हो जाने की आशा उस समय तक रहेगी, जब तक कि उसके स्थान पर नया-युग प्रतिष्ठित न हो जाय।

जब-तब गांधी-युग के अन्त के लिये प्रयत्न भी होते रहे हैं। परन्तु शुद्ध दृष्टि-कोण की न्यूनता के कारण पूर्ण सफलता प्राप्त न होसकी। इस युग से विद्रोह करने वालों ने भी वे ही साधन अपनाये, जो कि स्वयं ही असफल सिद्ध हुये हैं। इस मानवीय कमजोरी का एक कारण है, और वह है अपने नेतृत्व के प्रत्यक्ष रूपको देखने की लालसा। क्योंकि भारतवर्ष का वायु-मण्डल ऐसा बन गया है कि उसमें अब सत्याग्रह के नाम पर ही नेता का नेतृत्व टिक पाता है।

इसलिये स्थिर चित्त से नवयुग-निर्माण की साधना होनी चाहिये। निस्सन्देह यह साधना समय लेगी, और देश के कौने-कौने में मौन भाव से कार्य करने के लिये पर्य्याप्त संख्या में कार्य-कर्त्ता जुटाने में पर्य्याप्त साधन भी उत्पन्न करने पड़ेंगे; परन्तु चाह अपना मार्ग खोज लिया करती है—यह हमारा विश्वास है।

एक ही कार्य्य-क्रम

देशोद्धार के हेतु क्या कार्य-क्रम होना चाहिये, इस

सम्बन्ध में निश्चित बात नहीं कही जा सकती। हां, नीति तो नव-युग की प्रतिष्ठा करना ही होगी, परन्तु कार्य-क्रम परिस्थितियों के अनुसार हुआ करता है। सबसे मुख्य जिस बात की आवश्यकता है, वह यह है कि भारतवासी सैनिक मनोवृत्ति प्रधान हों। वे सच्ची अहिंसा की इज्जत करना सीखें। उनका विवेक शुद्ध और पैना बने, समस्याके विभिन्न पहलुओं पर निर्भीकता-पूर्वक विचार करने का उनमें साहस हो। और यह सब कुछ केवल इसी लिये हो कि देश की लुटी हुई स्वतन्त्रता वापिस आये।

इस युग-धर्म को निबाहने के लिये गांधीजी के राजनीतिक कार्यक्रम को सर्वथा छोड़ना पड़ेगा। उसके सहारे यह काम नहीं हो सकता। इस कार्य-क्रम को पूरा करने के लिये यह समझना भी भूल होगी कि गुप्त षड़यन्त्रों और व्यर्थ की खून-खराबी इच्छित है। यह मार्ग भी अत्यन्त खतरनाक है। इसमें भी केवल इतनी ही शक्ति है, जितनी गांधी-युग के धूम-धड़ाके में। हमें तो देश में अपने को शक्तिवान बनाने के लिये, और जिन्दगी के भाव भरने के लिये खुला हुआ व्यापक आन्दोलन करना पड़ेगा। यदि यह आन्दोलन देश से त्याग और बलिदान मांगे, तो उसे इसके लिये उद्यत रहना चाहिये। उसकी इन कुर्बानियों की मुल्क पर जो प्रतिक्रिया होगी, वह ध्येय प्राप्ति के लिये अत्यन्त लाभ कर सिद्ध होगी।

आवश्यकता ?

इस भावना को जाग्रत रखने के लिये, कि भौतिक शिक्षा और विचार-शक्ति-ही से स्वत्व प्राप्त तथा रक्षित होता है, एक वेदी की आवश्यकता है। ऐसी योजना या तो नवीन-रूप से करनी पड़ेगी, या किसी पुरानी संस्था का कायाकल्प करके। राजनीतिक दृष्टि से इस समय कांग्रेस सर्व-श्रेष्ठ संस्था है। उसकी आयु, उसका वैभव इस योग्य है कि जनता का उसकी ओर आकर्षण होना स्वाभाविक है। यह भी सत्य है कि उसमें असंगठित रूप से ऐसे विचारकों की संख्या प्रचुर है, जिन्हें गांधी-युग में विश्वास नहीं है। कुछ तो ऐसे भी हैं, जो गांधी-युग की समाप्ति करने में जी-जान से प्रयत्न-शील हैं। ऐसे हिस्से में क्रिया-शीलता है, और है अपने देश पर मर-मिटने की उमग। परन्तु उनका कोई संगठन नहीं है। नवयुग का स्वागत करने के लिये कांग्रेस एक सबसे सुन्दर प्रयत्न है। यद्यपि ऐसा वर्ग अभी बहुमत में नहीं है, उसका कोई निश्चित तरीका भी नहीं है, परन्तु उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह गांधी-युग का विरोधी है। यदि लगातार प्रयत्न होता रहे, और उसमें रहते हुये जनता के मनोविज्ञान के अनुसार नवयुग का कार्यक्रम उसके सामने रक्खा जाय, तो निश्चय ही ऐसा समय बहुत शीघ्र आसकता है, जब 'कांग्रेस' जैसी महान् संस्था और भी अधिक महान् होकर अपनी पूर्ण-स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा को पूरी कर सकेगी।

यदि ऐसा नहीं होता, तो यह भी निश्चित है, कि कांग्रेस धीरे-धीरे समाज-सुधारकों की संस्था का रूप ग्रहण कर लेगी; उसके क्रान्तिकारी अङ्ग का क्षय हो जाना अवश्यम्भावी है।

ऐसा सोचते समय दुख होता है, क्योंकि चाहे किसी ने भी कांग्रेस को अपनी सम्पत्ति समझी हो, वह राष्ट्र की सम्पत्ति है, और राष्ट्र का उस पर अधिकार है। देश-वासियों का प्रेम और श्रद्धा जो कुछ भी कांग्रेस में है, वह इसी लिये है कि उसने स्वतन्त्रता का बीड़ा उठाया है। उसके कार्यक्रम पर आन्दोलन चले हैं, उसमें जो कुछ हो सका, मुल्क ने मदद की। तब उसका अधिकार है कि वह कांग्रेस के नेतृत्व को- जो कि गांधी-युग का पोषक है- अलग कर के ऐसे नेतृत्व की प्रतिष्ठा करे, जिसका दृष्टिकोण शुद्ध राजनीतिक होने के साथ वास्तविक क्रान्तिकारी भी हो।

तब ?

और तब, एक ऐसा समय आयेगा, जब हम अपने देश के भाग्य का निर्णय करने की दशा में होंगे। आज की तरह हमारी किस्मत का फैसला करने वाले दूसरे नहीं होंगे, और न तब हम यह कह कर अपनी भिक्षुक-मनोवृत्ति का परिचय देंगे कि "मांगी थी रोटी, मिला पत्थर।" उस समय तो दो टूक की बात होगी; इस ओर या उस ओर। उस समय हम यह भी आशा करेंगे कि अंग्रेज जाति-जिसमें कि निश्चय ही वीरता की पुट है—हमारी शक्तिका आदर करेगी. और अपने

आप ही, विना किसी प्रकार की कटुता को उत्पन्न किये सहयोग के महत्त्व को स्वीकार करते हुये हिन्दुस्तान को अपना मित्र बनायेगी।

परन्तु यह जिम्मेदारी होगी ब्रिटिश सरकार पर ही। यह उसे ही तै करना होगा कि भारत के मित्र वनाने में उसका क्या लाभ है. और उसका क्या तरीका है। हिन्दुस्तान को तो एक मात्र उसकी आधीनता से हट कर पूर्ण स्वाधीन होना है, और वह होकर भी रहेगा। फिर चाहे उसे एक गांधी-युग का अन्त क्या, कुछ भी क्यों न करना पड़े।

गांधी-युग का अन्त

इस प्रकार हमारे पाठंक समझ गये होंगे कि गांधी-युग के प्रति विद्रोह करने की आवश्यकता क्यों है ? वैसे तो सूक्ष्म दृष्टि से उसका अन्त हो ही गया है, परन्तु जनता पर जो उसका घातक प्रभाव पड़ा है, उसका अन्त करने के लिये इस बात की अतीव आवश्यकता है कि टेर-टेर कर घोषणा की जाय, और उसके स्थान पर विशुद्ध राजनीतिक-युग को बिठाया जाये। तभी भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध का सही-सही नेतृत्व होना सम्भव है।

जगत नियन्ता की प्रेरणा हम सब के लिये ऐसी ही हो।

* वन्देमातरम् *

× इन्कलाब-जिन्दाबाद ×

प्रगतिशील-प्रकाशन की योजना.

अग्रगामी साहित्य-मण्डल इटावा का जन्म निश्चित ध्येय की साधना के लिये हुआ है। इसका प्रत्येक प्रकाशन ध्येय पूर्तिके लिये होगा। इस मार्ग में कितनी ही बाधायें आवेंगी, परन्तु वह उनका मुकाबिला करेगा—स्वतन्त्रता, प्रगति, शुद्ध विवेक और अपने पाठकों की सहायता पर। हमारा काम है, ऐसा साहित्य-सृजन करना, और पाठकों का कर्त्तव्य होगा उसे आश्रय देना। यदि ये विनिमय चला, तो भला है, नहीं हम अपना कार्य करते चलेंगे और हिन्दी भाषा-भाषी अपना। इसी विश्वासके सहारे प्रकाशनके इस शुभारम्भ में हमें अपने पाठकों से अपील करने का अधिकार है।

हमारी योजना है कि वर्ष में अग्रगामी साहित्य-मण्डल द्वारा ६) रु० के मूल्य का साहित्य प्रकाशित हो, और इतनी अधिक संख्या में हो ताकि उसे सस्ता करके अधिकसे अधिक उपयोग में लाया जासके। इसके लिये आवश्यकता है कि मण्डल के पर्याप्त संख्या में स्थायी ग्राहक हों। हमने निश्चय किया है कि ऐसे कृपालु ग्राहकों को हम मूल्यमें २५ प्रतिशत छूट देगें। स्थायी ग्राहक बनने के लिये केवल ॥) आने की प्रवेश फीस है, जो कि नाम कटने के समय, आज्ञा मिलने पर पुस्तक रूप में वापिस भी कर दी जायगी।

निवेदक :—

चन्द्रमौलि पाण्डेय, (बी० एस-सी०) देवीदयाल दुवे

सञ्चालक— अग्रगामी साहित्य-मण्डल इटावा, यू० पी०

जागृत स्वप्न

समस्या-प्रधान अनूठे गद्य-काव्य

[लेखक—पं० देवीदयाल दुवे] मूल्य आठ आना।

हिन्दी-साहित्य में एक नवीन-शैली को लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। यह विशेषता है कि भावुकता को समाज की ठोस समस्याओं से सम्बन्धित करके उपस्थित किया गया है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते आप उस विचार-जगत में पहुँच जायेंगे जहां पर 'जागृत स्वप्न' शब्द सार्थक लगेगा।

गान्धी-युगका अन्त

गत २० वर्ष के राजनीतिक-आन्दोलन का सिंहावलोकन।

[लेखक—पं० देवीदयाल दुवे] मूल्य एक रुपया।

आगामी प्रकाशन:—

गान्धीवादकी परख

गाँधीवाद की विस्तृत आलोचना। लेखक-पं०देवीदयाल दुवे

जीवनके उस पार

आध्यात्मिक-प्रयोगों का संग्रह

लेखक—पं० चन्द्रमौलि पांडे, बी. एस-सी.

हमारा स्वराज्य

स्वराज्य क्या है, कैसे प्राप्त होगा? जैसे गम्भीर विषयों का विचार-पूर्ण ग्रन्थ। लेखक—श्री 'वीतराग'

सुहाग-उत्सव

भाव-पूर्ण, मनोवैज्ञानिक कहानियों का संग्रह।

लेखक—पं० देवीदयाल दुवे